गगनाञ्चल

वर्ष १० अंक २ १९८७

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद
नयी दिल्ली

प्रकाशक

ललित मानसिंह, महानिदेशक,
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद,
नयी दिल्ली-११०००२

संपादक

गिरिजा कुमार माथुर

प्रकाशन सहायक

अमरेंद्र मिश्र

आवरण

कांतिराय

मुद्रक :

एस.बी. प्रिंटर्स, बी-१७, सेक्टर ८ नोएडा

शुल्क दरें

एक अंक	वार्षिक	त्रैवार्षिक
रु० ५.००	रु० २०.००	रु० ५०.००
£ १.००	£ ४.००	£ १०.००
$ २.५०	$ १०.००	$ २५.००

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्य से १९५० में परिषद की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त त्रैमासिक पत्रिकाएँ भी प्रकाशित करती है जो हिंदी (गगनाञ्चल), अंग्रेजी (इंडियन हराइज़न्स, अफ्रीका क्वार्टरली), अरबी (सकाफत-उल-हिंद), स्पेनिश (पपेलस-दे-ला-इंडिया) और फ्रेंच (रकौंत्र अवेक लैंद) भाषाओं में हैं। हिंदी, अंग्रेजी, अरबी, स्पेनिश और फ्रेंच त्रैमासिकों की शुल्क दरें साथ दी हुई हैं। 'गगनाञ्चल' के शुल्क के भुगतान से संबंधित पत्र-व्यवहार और प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक 'गगनाञ्चल' से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए :

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट
नयी दिल्ली-११०००२

गगनाञ्चल

वर्ष १०   अंक २ १९८७

संपादकीय

एक आत्मीय भावांजलि	गिरिजा कुमार माथुर	५
अज्ञेय से अवसानोत्तर संवाद (कविता)	डॉ. जगदीश गुप्त	९
नई कविता के सहोद्योगी अज्ञेय	डॉ. प्रभाकर माचवे	१४
अज्ञेय के माध्यम से वात्स्यायन की खोज	डॉ. रणवीर रांग्रा	२३

लंबी कविता

बिजली का उड़नखटोल	डॉ. गोपाल शर्मा	३१
मौसम की दस्तक	प्रताप सहगल	३६
गोस्वामी तुलसीदास के काव्य में प्रखर युगबोध	प्रो. विजयेंद्र स्नातक	४४
प्रिय पुत्र, अमृत लेकर ही लौटना	कुबेरनाथ राय	५१
आधुनिक रामकाव्यों में सौंदर्यबोध	डॉ. नीलम गुप्त	६३
प्रकृति की गोद में शांतिनिकेतन	डॉ. ललित शुक्ल	७३
पाँच कविताएँ/बल्गारिया/ईश्वर/तनमन/एक उपग्रह में/ तुम्हारा प्रभामंडल	रमेश कौशिक	७८
दो कविताएँ/तुम्हें भी मालुम होगा/वे शब्द ही है	प्रेमशंकर रघुवंशी	८१
हरी आकांक्षाएँ	डॉ. उमादत्त शर्मा 'सतीश'	८३
दो कविताएँ/मौन रहोगी/जेठ की जलती धूप	हरदयाल	८६
दो गीत	यश मालवीय	८८

रेणु-स्मृति

रिमझिम बरसत मेघ हे	डॉ. रामदरश मिश्र	९०
जब रेणु की याद आए	शंकरदयाल सिंह	९६
भारतीय कला, संस्कृति और सूर्य	निदेशचंद्र अग्रवाल	९९

पुस्तकें

'करवट'/'उत्तरगाथा'/'राष्ट्रीय कविताएँ'		११०
सूरीनाम में भारतीय सांस्कृतिक केंद्र	रागिनी सिन्हा	१२३
पत्र-पत्रांश		१२७
इस अंक के लेखक		१३१

अरे यायावर, रहेगा याद!

संपादकीय

अज्ञेय-स्मृति

एक आत्मीय भावांजलि

नई कविता के सबसे प्रखर एवं वरिष्ठ हस्ताक्षर अज्ञेय का ४ अप्रैल, १९८७ को ७६ वर्ष की आयु में अकस्मात् निधन हो गया। उनके साथ ही नई कविता की एक विशिष्ट धारा का युग भी समाप्त हो गया। सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' का जैसा असाधारण नाम था वैसी ही उनकी विलक्षण प्रतिभा अनेक दिशाओं में प्रवाहित हुई थी। पंजाब में जालंधर के निकट करतारपुर के मूल निवासी होते हुए भी वे जीवन भर यायावर रहे और अपने बचपन से ही सारे देश की यात्राएं करते रहे। उनके पिता पं. हीरानंद शास्त्री प्रख्यात पुरातत्व-वेत्ता और संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। भारत सरकार के पुरातत्व विभाग में वे उच्च पदाधिकारी थे और प्राचीन भारतीय संस्कृति के विद्वान् थे। उत्तर प्रदेश के वर्तमान कसिया गाँव में जिसका प्राचीन नाम कुशीनगर था, उनका जन्म ७ मार्च, १९११ को एक शिविर में हुआ जहाँ उनके पिता बौद्धकाल के इतिहास-प्रसिद्ध कुशीनगर के भग्नावशेषों का उत्खनन कार्य करा रहे थे। अपने कार्य के संबंध में हीरानंद अनेक ऐतिहासिक स्थलों पर जाते थे और भारत के सुदूर, सुनसान स्थानों और बनप्रांतों में फैले ऐतिहासिक अवशेषों के बीच शिविर में रहते थे। इस प्रकार प्रारंभ से ही बालक सच्चिदानंद को नये-नये क्षेत्रों, प्रकृति के रम्य और बीहड़ स्थलों, अनेक जनपदों की संस्कृति, भाषा, परंपराओं के समृद्ध अनुभव प्राप्त होते चले गये। उनका बचपन लखनऊ, कश्मीर, बिहार और मद्रास में बीता। शिक्षा मद्रास तथा लाहौर में हुई। अपने परिवार के परिष्कृत संस्कारों के अनुरूप उन्हें संस्कृत का व्यापक अध्ययन कराया गया और उनकी प्रतिभा क्रमशः विकसित होती चली गई। उन्होंने वेद, उपनिषद्, भारतीय दर्शन, पुराण, काव्यशास्त्र, इतिहास के साथ विज्ञान का भी अध्ययन किया। मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज से साइंस में इंटरमीडिएट परीक्षा पास करने के बाद लाहौर में १९२९ में उच्च श्रेणी में उन्होंने विज्ञान में स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण की। तत्पश्चात् वे लाहौर ही में अंग्रेजी में एम.ए. करने लगे। उन्हीं दिनों उनका संपर्क क्रांतिकारियों से हो गया और ब्रिटिश साम्राज्यवादी दासता से देश को मुक्त कराने के लिए सशस्त्र क्रांति के कार्यों में शामिल हो गए। नवम्बर, १९३० में वे अमृतसर में गिरफ्तार हुए और लगभग छः वर्ष बंदी जीवन की कठिन यातनाएँ उठाईं। लेकिन जेल की काल कोठरियों की यंत्रणा और अँधेरा उनकी तेजस्वी प्रतिभा को बंदी नहीं बना पाया। जेल में लिखी उनकी कहानियों का प्रकाशन जैनेंद्र जी के माध्यम से होने लगा जिसमें उनकी मौलिक प्रतिभा ने सबको आकर्षित किया। उन्हें गुमनाम रखने के लिए ही जैनेंद्र जी ने उन्हें 'अज्ञेय' उपनाम दे दिया था। इस प्रकार 'अज्ञेय' नाम ही उनके साहित्यिक यश के साथ जुड़ गया। कारावास के कठोर वातावरण के बीच ही उन्होंने एकदम नयी शैली की कहानियाँ लिखीं और वहीं 'भग्नदूत',

'चिंता' जैसी काव्य और विचार-प्रधान कृतियाँ तथा 'शेखर : एक जीवनी' जैसे प्रसिद्ध उपन्यास की रचना की। इस प्रकार जेल के एकाकीपन के बीच ही उनकी रचनात्मक प्रतिभा का प्रकाश एक आलोकित दीपशिखा की तरह प्रज्ज्वलित होता चला गया। १९३६ में जेल से छूटने के बाद वे सैनिक (आगरा) नामक समाचार पत्र में कुछ दिन रहे और फिर डेढ़ वर्ष तक कलकत्ता में 'विशाल भारत' जैसी प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका का संपादन किया। अध्ययन, चिंतन, विचार और अनुभव की प्रौढ़ता अन्य लोगों को जो वर्षों में प्राप्त होती है वह महानता अज्ञेय को युवावस्था में ही मिल गयी थी। प्रकृति के अनन्य प्रेमी, अपरिचित क्षेत्रों के यायावर, भाषाविद्, सांस्कृतिक परंपरा में पारंगत, क्रांतिकारी, कथाकार, कवि, अंग्रेजी के विद्वान, पत्रकार-संपादक के रूप में ३० वर्ष की आयु में ही वे प्रतिष्ठित हो गए थे। १९४१-४२ में ऑल इंडिया रेडियो में काम करने के बाद वे द्वितीय महायुद्ध में कैप्टन नियुक्त होकर आसाम चले गये। वहाँ से १९४६ में लौटकर उन्होंने 'प्रतीक' जैसी शुद्ध साहित्यिक पत्रिका का संपादन इलाहाबाद से आरंभ किया। उसी वर्ष उनकी कविताओं का नया संकलन 'इत्यलम' नाम से प्रकाशित हुआ। यहीं से वे मूलत: कथा के क्षेत्र से हटकर क्रमश: कविता के क्षेत्र में आए। तब तक हिंदी कविता में नयी प्रयोगधर्मी सामाजिक चेतना का उदय हो चुका था। १९३८-४३ के बीच छायावादी परंपरा से अलग हटकर प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की नयी और परस्पर पूरक धाराएं आरंभ हो चुकी थीं। नूतन प्रवृत्ति की इसी नई धारा ने हिंदी कविता को एक अत्यंत नया मोड़ दिया था। उस समय के सात प्रतिनिधि कवियों (मुक्तिबोध, नेमीचंद जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय) की कविताओं को एकत्र कर 'तार सप्तक' जैसे ऐतिहासिक काव्यग्रंथ का संपादन अज्ञेय ने किया और इस प्रकार नये कृतित्व को समवेत मंच देने का पौरोहित्य अज्ञेय के द्वारा संपन्न हुआ। १९४३ में 'तार सप्तक' में संकलित कवि के रूप में मेरा उनसे जो निकट परिचय हुआ वह जीवनभर बना रहा। 'तार सप्तक' में उनके संपादकीय से ही एक महान विचारक का रूप सामने आया और यहीं से अज्ञेय नए साहित्यिक एवं मानवीय मूल्यों के चिंतक एवं व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध हुए। 'तार सप्तक' और 'प्रतीक' के बाद उन्होंने अपना साहित्यिक रचनात्मक कोण बदला। 'हरी घास पर क्षणभर' नामक कविता संकलन से वे एक चिंतन-प्रधान श्रेष्ठ कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए। कविता को उन्होंने संवेग, बिम्बधर्मिता तथा प्रगीतात्मकता से अलग करके उसे कथ्य की वैचारिकता, बौद्धिकता और अनुभूति की प्रामाणिकता से जोड़ दिया। लय प्रधान मुक्त छंद के स्थान पर छंद-मुक्त (फ्री-वर्स) विधा विकसित की जिसमें शब्द की क्रमान्विति को उन्होंने प्रमुखता दी। बाह्य सामाजिक जीवन के यथार्थ, संघर्ष और संताप की अभिव्यक्ति से कविता की दिशा उन्होंने मोड़ी। यहीं से आंतरिक अनुभूति, आत्म-साक्षात्कार एवं व्यक्ति-केंद्रित मानवीय मूल्यों की आत्मनिष्ठ आधुनिकतावादी शैली का सूत्रपात हुआ जो १९५१-५२ के बाद 'नयी कविता' के नाम से जानी जाती है। अपने विचारों के कारण वे लगातार साहित्यिक विवादों एवं चर्चाओं का केंद्र बने रहे। किंतु कटु आलोचनाओं के बीच भी उन्होंने अपनी गंभीरता, शालीनता और शील-संस्कार की गरिमा को सदा बनाए रखा। वैचारिक मतभेदों के बावजूद वे कविता के अनन्य पारखी थे यह मेरा अनुभव रहा है। उन्होंने अंग्रेजी कविताएँ भी लिखीं जो 'प्रिजन डेज एंड अदर पोयम्स' नाम से प्रकाशित हुई थीं। अपनी कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद भी 'पुस्तकाकार' प्रकाशित किए। उनके साहित्यिक अवदान के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार, ज्ञानपीठ पुरस्कार एवं उत्तरप्रदेश के शीर्षस्थ 'भारत भारती' पुरस्कार से उन्हें समादृत किया गया। अज्ञेय का साहित्य वस्तुत: व्यक्ति स्वातंत्र्य, मानवीय गरिमा, व्यक्तित्व की अद्वितीयता, जीवन के नैरंतर्य में गहरी आस्था और मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों की पावनता को प्रतिष्ठित करने की ओर

निरंतर अग्रसर रहा है। प्रकृति के वैराट्य के साथ न केवल उन्होंने जीवन की लय को जोड़ा बल्कि उसी समष्टि में उनकी व्यक्ति-निष्ठा का विसर्जन तथा एकांतिक भावनाओं एवं बुद्धिवाद का उदात्ती-करण भी हुआ है। उन्होंने साहित्य को गुरूतर बौद्धिक मूल्यों से मंडित किया और भाषा की वाचिक परंपरा को काव्य में स्थापित कर कविता को एक नया आयाम दिया। अज्ञेय ने आधुनिक हिंदी साहित्य और कविता पर अपनी मौलिक और अमूल्य छाप छोड़ी है। उनके आकस्मिक निधन से न केवल भारतीय साहित्य को अपार हानि हुई है बल्कि एक अत्यंत प्रतिभावान और मर्मज्ञ काव्य सहयात्री के रूप में मुझे आत्मीय क्षति का निरंतर अहसास होता रहा है।

ऐसे बहुआयामी और श्रेष्ठ कृती को हम अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

—गिरिजा कुमार माथुर

एक बूंद सहसा उछली

अज्ञेय से अवसानोत्तर संवाद

डॉ. जगदीश गुप्त

आज जब तुम नहीं हो
तो औपचारिक भाषा का अतिक्रमण करके
मैं तुम्हें सीधे ही संबोधित कर रहा हूँ
विश्वास की वाणी को
तुमसे अधिक कौन समझेगा।

क्या हुआ
यदि मैं अंतिम क्षणों में
तुम्हारी छटपटाती देह
तुम्हारी शब्दातीत पीड़ा
नहीं देख सका।
अस्पताल की दीवारों के भीतर
ठंडी ज़मीन पर तुम्हारे पास
लाचार-निरीह
नहीं बैठ सका
अर्थों की गहराई में उतरने वाले तुम
क्या यह मानोगे कि मैं
तुम्हारी अर्थी के साथ नहीं था?
तुम्हें फूलों का तोड़ना असह्य था
क्योंकि देवता के लिए तुम
उन्हें डाल पर ही समर्पित मानते थे.
पर क्या तुम्हारे आसपास के लोगों ने
तुम्हारी इस छोटी सी इच्छा का भी
सम्मान किया?

साम्राज्ञी का नैवेद्य दान
उन्हें कैसे भूल गया?
शव-यात्रा में, द्वार के पार जाते ही
पैरों के नीचे कुचलते हुए फूल
तुम्हें रौंदे हुए इंद्र धनुओं की याद
दिलाते रहे होंगे।
दिलाते रहे होंगे।
तुम कितने असंग हो गये होंगे
उस क्षण
जब देह का संग भी छूट गया होगा।
क्या तुमने स्वयं देख पाया?
अपनी वत्सला स्रोतस्विनी को छोड़कर
नदी का वह द्वीप
समय की प्रखर धार में
अकस्मात विलीन हो गया?

अब वह कब,
कहाँ, कैसे, स्थिर होगा
तुम्हारी स्रोतस्विनी ही जाने।

(दो)

प्रवाहित क्षणों
और बिखरते कणों पर
विराम लगाकर
धरती ने यही लिख दिया था
कि कविता
तुम्हारे लिए कभी साधन नहीं बनी,
साध्य वह कहाँ तक हो सकी
आगे आने वाले युग ही उत्तर देंगे।

तुम ऐसी प्रतिभा के स्रोत थे
जो अपने प्रभा-मण्डल में
स्वयं खो गया था—
आकाश में आलोक-पथ बनाते हुए।
नंगे अंधेरों को
और भी उघाड़ते हुए
यह तुम्हीं ने तो कहा था—

''एक नंगा, तीखा, निर्मल प्रकाश
ऐसा भी होता है
जिसमें कोई प्रभा-मण्डल नहीं बनते।''

(तीन)

नये लॉन में घास रोपते हुए
तुमने शिकायतन कहा था
लोग मुझे कवि नहीं मानते।

मैंने देखा
उस दिन तुम्हारे भीतर
उपालंभ के साथ खेद था
पर उस खेद के भीतर
एक चुनौती भी थी
तुमने जिसे स्वीकार किया
और युग ने भी। एक साथ।

तुमने अपनी कविता का
एक असाधारण शीर्षक दिया था
—''सम्पराय''

जिसका अर्थ कोश ही जानते थे
पर तुम्हें सहज ज्ञात था
आमलकवत्।

बिना उसके तुम कैसे लिख पाते
कि तुम अपनी चिता
स्वयं रच रहे हो—
है राह
कुहासे तक ही नहीं,
पार देहरी के । है ।
मैं हूं तो वह भी है
तीर्थाटन को निकला हूं
कांधे बांधे हूं
लकड़ियां चिता की
....
पर तीर्थ यही तो होते हैं
अनजाने यद्यपि वांछित — सम्पराय
हम होते ही रहते हैं वहां पार।

(चार)

अमृत खोजता
नश्वरता के भीतर तक,
जानता हुताशन
नहीं मार सकता कोई
कुछ में, कुछ भी से।
देख लिखा था
अग्नि-शिराओं में धक्-धक्
अंगार प्यार का।

रक्त-रूप जो रहा लेखनी में स्वर भरता,
निर्झर था वह, सन्नाटे का छंद बन गया
जाने कैसे ?

तुमने कहा था
जो विकृत नहीं होता
वही तो विवेक है,
और कालिदास ने कहा था
जो विकृत होता है
वही तो जीवन है
विवेक और जीवन के बीच
तालमेल बिठाने में ही
कदाचित तुम्हें कविगुरु से पूछना पड़ा—
''किमिदं यक्ष''?
कौन सी चमत्कारी सत्ता है यह —मनस्वी।
तुम्हारा रचना-धर्मी मन
लिख-लिखकर फिर
लिखने में विश्वास करता था
जब तक तुम्हें संतोष न हो जाय।

☐

हिय हारिल
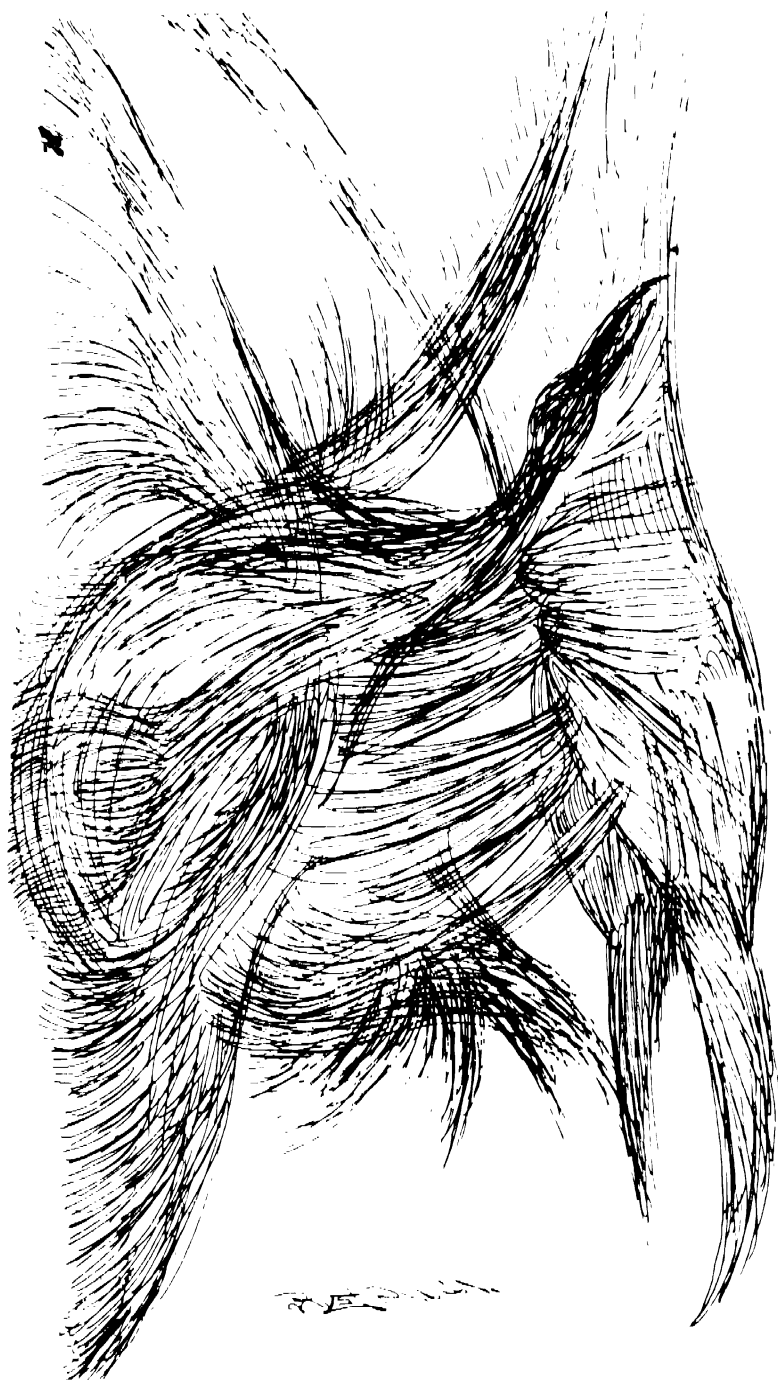
नयी हिंदी कविता के 'सहोद्योगी' अज्ञेय

डॉ. प्रभाकर माचवे

'अज्ञेय' ४ अप्रैल १९८७ को नहीं रहे। उनका नाम १९४३ में प्रकाशित 'तार-सप्तक' नामक एक सात कवियों के 'सहोद्योगी' प्रकाशन से (यह शब्द उस पुस्तक की भूमिका में संपादक 'अज्ञेय' ने लिखा है) जुड़ा है। बल्कि एक के बाद एक चार सप्तक उन्होंने संपादित किये। और इन अट्ठाइस कवियों में ऐसे कई प्रसिद्ध कवि बाद में आगे आये, जिनमें से कुछ अब दिवंगत हैं—जैसे गजानन माधव मुक्तिबोध, भारत भूषण अग्रवाल, भवानी प्रसाद मिश्र, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, विजयदेव नारायण साही। इस संकलन-संपादन कार्य में गये चार दशकों में नयी हिंदी कविता ने कई मोड़ लिये। कई तथाकथित कवियों की पोल भी खुल गई, कई तथाकथित 'प्रगतिवादी' एकदम अपने पुराने विश्वासों से विपरीत नव्य-रहस्यवादी हो गये, कइयों ने कविता लिखना प्राय: बंद कर दिया, कई इतिहास की अजस्र धारा में 'एक बूंद सहसा उछली' बनकर विराट विस्मृति में समा गये। इस लेख में, 'अज्ञेय' जी को श्रद्धांजलि देने के साथ उस समय और परिस्थिति का चित्रण भी होगा जिनसे यह तथाकथित 'प्रयोगवादी' आंदोलन जोर पकड़ता गया, और उस सामूहिक प्रक्रिया में 'अज्ञेय' कैसे एक प्रेरक कवि रहे इस बात की चर्चा होगी।

गत विश्व-महायुद्ध (१९३९-४५) के समय भारत के बौद्धिक, कवि, लेखक तीन खेमों में बँट गये थे :

(१) गांधीवादी : युद्ध मात्र के विरोध में १९४० में वैयक्तिक सत्याग्रह के समर्थक थे।

(२) समाजवादी : अगस्त सन' ४२ के आंदोलन में अंग्रेजों के 'भारत छोड़ो' अभियान में युद्ध-प्रयत्न विरोधी।

(३) साम्यवादी एवं 'एम.एन. रायवादी' (महायुद्ध फासिस्त विरोधी होने से युद्ध-प्रयत्न समर्थक)।

'अज्ञेय' जी तब रैडिकल ह्यूमैनिस्ट नेता मानवेंद्रनाथ राय के प्रबल समर्थक थे और १९४२-४३ में कप्तान बनकर आसाम-मोर्चे पर 'दिलखुश सभा' नामक सिपाहियों के मनोरंजन के दस्ते से संबद्ध थे। जब वे कलकत्ता में इस कार्य के लिए गये थे, भारत भूषण अग्रवाल, भँवरमल सिंघी आदि की मारवाड़ी-रिलीफ सोसाइटी की पत्रिका 'समाज-कल्याण' के संपादक थे। जमनालाल बजाज की मृत्यु पर भारत जी ने कविता भी लिखी थी। नेमिचंद्र जैन तब शुजालपुर के एक स्कूल में अध्यापक थे और वहीं गजानन माधव मुक्तिबोध थे। मालवा (मध्य प्रदेश) में ही जन्मे श्री गिरिजाकुमार माथुर तब

आकाशवाणी लखनऊ में पदाधिकारी थे। और डॉ. रामविलास शर्मा लखनऊ विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग में अध्यक्ष थे। 'प्री-रैफेलाइट्स' पर उन्होंने अंग्रेजी में पी.एच.डी. की थी। 'संघर्ष' के १९४१ के रवींद्रनाथ ठाकुर की मृत्यु के बाद विशेषांक का संपादन उन्होंने आचार्य नरेंद्रदेव जी के लिए किया था। मैं तब माधव कॉलेज उज्जैन में तर्कशास्त्र पढ़ाता था। गाँधी जी के आश्रम से मेरा संबंध सन् १९४० से हुआ था। मेरा सन् १९४२ के आंदोलन के अनेक भूमिगत कार्यकर्ताओं से संबंध था। जेल में गये लोगों के परिवारों की हम सहायता करते थे। धन से, किताबों से, अन्य आवश्यक वस्तुओं से। यह गुप्त कार्य करते समय मैं साम्यवादियों के साथ हूँ, यह बताना जरूरी था, जिससे पुलिस की निगाह हम पर उतनी न रहे। एम.एन. राय के ग्रंथ तक मैंने पढ़े, और उनके क्रांतिकारी मानवतावाद' से मैं बहुत आकृष्ट हुआ। मराठी साहित्य से मेरा घनिष्ठ संबंध था— उनमें मेरे कई प्रिय लेखक 'रायवादी' थे और हैं। यह सब बताने का हेतु यह है कि 'तार-सप्तक कैसे बना, यह पार्श्वभूमि समझ में आये।

पहले विचार यह हुआ कि मध्य प्रदेश के वे कवि, जिनका कोई कविता-संग्रह तब तक नहीं छपा था, उनकी कविताओं का चयन-संकलन कर मराठी 'रविकिरणमंडल' के सात कवियों ('सप्तर्षि, जिनमें एक अरुंधती मनोरमाबाई रानडे थीं) जैसे संग्रह अलग-अलग छापे जायें। नेमिचंद्र बंगाली अच्छी जानते थे। वे 'चार पोइशाय एकटी' संग्रह छोटी-छोटी पुस्तिकाओं की तरह लाये, बुद्धदेव बसु, सुभाष मुखोपाध्याय आदि के। और तब नए हिंदी कवियों की अलग-अलग पुस्तिकाएँ छापने का तय हुआ। नेमिचंद्र, मुक्तिबोध, मैं तो थे ही, 'आगामी कल' पाक्षिक के संपादक प्रयागचंद्र शर्मा, वीरेंद्रकुमार जैन, गिरिजाकुमार माथुर मिलाकर सात हो जाते। कवयित्री शकुन्त माथुर को हम ले सकते थे। पर इसी बीच (स्व.) भारत भूषण अग्रवाल ने, जो नेमिचंद्र के 'साढू' थे (दोनों की पत्नियाँ सगी बहनें हैं) और कलकत्ता में 'अज्ञेय' जी के संपर्क में थे यह प्रस्ताव रखा कि सब लोग अपना-अपना छपाई का खर्चा दें तो एक सहकारी प्रकाशन हो जाये। मुद्रण आदि का भार वात्स्यायन जी ने अपने ऊपर लिया। नाम मैंने 'सप्तक' सुझाया था, बाद में 'तार' वात्स्यायन जी ने जोड़ा और प्रयाग वीरेंद्र जैन को पता नहीं क्यों उनमें नहीं लिया। पहले जो विचार मालवा-मध्य प्रदेश तक सीमित रखने का था, उसमें भारत भूषण जी आ गये और डॉ. रामविलास शर्मा के 'व्यंग्यों' से तब अज्ञेय बहुत प्रभावित थे उनको भी लेने का तय हो गया। इसीलिए वीरेंद्र कुमार और प्रयाग छूट गए। पाँच सौ ही प्रतियाँ छपी थीं। मैंने तो पैसे भी नहीं भेजे थे। शायद वात्स्यायन जी ने ही मेरी ओर से दिये थे। बाद में यह पुस्तक ऐतिहासिक महत्व की हो गयी। यह संग्रह छायावाद और प्रगतिवाद दोनों प्रचलित शैलियों से भिन्न था, यद्यपि प्रगतिशील सामाजिक प्रवृत्ति की कविताएँ उसमें थीं। मैंने ही वात्स्यायन जी डॉ. देवराज, नलिन विलोचन शर्मा के साथ सन् १९४८ में आल इंडिया रेडियो, इलाहाबाद में आधुनिक हिंदी कविता पर रेकार्ड की गई 'परिचर्चा' में, नलिन जी को 'प्रपद्यवादी', वात्स्यायन को 'प्रयोगवादी' और डॉ. देवराज को 'दार्शनिक व्यक्तिवादी कवि' के नाते परिचय दिया। 'प्रयोगवाद' शब्द का पहला प्रयोग यों मैंने किया, और यह नाम इस तथाकथित 'आंदोलन' से चिपक गया। छंद, भाषा, स्वरालोडन जैसे गिरिजाकुमार माथुर ने 'तार सप्तक' के पहले वक्तव्य में विस्तार से लिखा है), विषय ('मैं और खाली चाय की प्याली), 'मध्यवित्त' जैसे मेरी कविताएँ, पैरोडी (जैसे रामविलास शर्मा की 'हाथी घोड़ा पालकी' में 'सत्यम् शिवम् सुंदरम्' का मज़ाक उड़ाया गया था), सानेट, अंतर्गत एकालाप (मुक्तिबोध की ब्राउनिंग जैसी 'इंटर्नल सालिलोकी) आदि प्रयोग तो इसमें थे ही। पर 'प्रयोग का 'वाद' कभी बन न सका— वह 'अज्ञेय' और उस कविता के अलीबाबा के चालीस अनुयायियों तक ही सीमित रहा।

इस संग्रह में और नई कविता के इस मोड़ पर 'अज्ञेय' और उनके 'सहोद्योगियों' के कार्य पर विचार करने से पहले चार बातें स्पष्ट हो जानी चाहिए

ये सब कवि मुक्तिबोध को छोड़कर अंग्रेजी साहित्य के एम.ए. थे। वात्स्यायन ने आधा एम.ए. लाहौर में करके छोड़ दिया था क्रांतिकारी आंदोलन में जाने के लिए। रामविलास अंग्रेजी साहित्य के 'डॉक्टर' थे, पर न वे कभी अंग्रेजी में कभी लिखते थे, न हैं, अंग्रेजी-विरोधी हैं, और न उनका 'थीसिस' कभी छपा। मैं, गिरिजाकुमार, नेमिचंद्र, भारतभूषण सभी अंग्रेजी के एम.ए. थे। उस समय के कई गद्य ।हिंदी लेखक भी अंग्रेजी के ही एम.ए. थे : प्रकाशचंद्र गुप्त, अमृतराय, विजयदेव नारायण साही, डॉ. बच्चन इत्यादि। यह तथ्य इसलिए जरुरी है कि अंग्रेजी रोमैंटिक कविता का, बाद के ह्रासोन्मुख (डिकेडंट) रोमानवाद में क्या ह्रस्र स्विनबर्न (Swinburn) तक हुआ, और टी.एस. इलियट, एज़रा पाउंड डब्लू. एच. आडेन की कविता का प्रभाव इन सब कवियों पर पड़ा।

इन सब कवियों ने उन्नीसवीं-बीसवीं सदी के अंग्रेजी के अलावा यूरोपीय (माइकोवस्की, लुई आरागाँ, पाब्लो नेरुदा, लोर्का, बादलेयर आदि की कविताएँ) अधिकतर अनुवाद में, कवियों की रचनाएँ पढ़ी थीं। इनमें से कई कवि अन्य भारतीय भाषाओं से परिचित थे। वात्स्यायन जी उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी पढ़ लेते और बंगला, तमिल बोल भी लेते थे— पंजाबी तो उनकी मातृभाषा ही थी, मैं भी सात आठ भाषाएँ जानता था, नेमिचंद्र, भारतभूषण बंगला ज्ञाता थे। और इन भाषाओं के नयी कविता आंदोलन से ये सब लोग सुपरिचित थे। गिरिजाकुमार रेडियो से संबद्ध होने से अखिल भारतीय कार्यक्रमों में रुचि लेते थे अनुवाद भी करते थे। आल इंडिया रेडियो में वात्स्यायन, भारतभूषण अग्रवाल, नरेश मेहता, हरिनारायण व्यास और बाद में रघुवीर सहाय, प्रयाग नारायण त्रिपाठी आदि जुड़े थे— और 'वाचिक परंपरा' (स्पोकन वर्ड) से उनका रोज का संबंध था। ऑडेन आदि बोलचाल की भाषा को कविता की भाषा बना रहे थे। अमेरिका में 'लेंग्वेज' 'स्लैंग्वेज' बन चुकी थी।

सब कवियों को यह लग रहा था कि प्रकृति के जीवंत स्पर्श से हम जैसे टूट गये हैं। नगरीकरण ने हमारा भोलापन, निर्व्याज ग्राम-बोध नष्ट कर दिया है। अवधी-बैसगाड़ी के प्रेमी रामविलास तो कविता में 'भदेसपन' के समर्थक थे। मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार, नरेश मेहता, हरिनारायण व्यास, भवानी प्रसाद मिश्र में मालवा-मध्य प्रदेश के कई शब्द और संदर्भ अनायास चले आ रहे थे। अपनी जड़ों से जुड़ने के प्रयत्न में खड़ी बोली को संस्कृतमय कृत्रिम भाषा बनाने वाले कवियों से यह भिन्न धारा थी। अब 'रुपोद्यान प्रफुल्लप्राय कलिका राकेन्दु बिम्बाननों जैसी 'हरिऔधी' शार्दूलविक्रीडित रचना कोई नहीं करता था। न 'ज्योत्सना' के पंत की 'पक्ष्मिल पलकें' और 'प्रसाद' की 'अलंबुषा' जैसे आर्यप्रयोग कोई करता था। स्व. 'फिराक' तो कहते थे कि सुमित्रानंदन पंत आपटे की संस्कृत डिक्शनरी सामने रखकर कविता लिखते थे।

चौथी सबसे महत्वपूर्ण 'प्रयोग' वाली बात थी बिंबों का नया संश्लिष्ट संसार। पुरानी रीतिकालीन या छायावादी कविता तक केवल 'चाक्षुष' या 'श्रव्य' बिंब (अनुप्रासादि) अधिक थे। पहली बात 'तारसप्तक' ने हिंदी कविता में गंध, स्पर्श, स्वाद के नये बिंबों को कविता का उपजीव्य बनाया। १९४३ से पहले क्या किसी कवि ने लिखा था— 'मूत्रसिंचित मृत्तिका के वृतत में तीन टाँगों पर खड़ा नत-ग्रीव/धैर्यधन गदहा' या 'गोयठों के गंधमय अम्बार।' (दोनों 'अज्ञेय' की पंक्तियाँ 'शिशिर की राका-निशा' तारसप्तक से). 'बिकसी फुटें, पकती कचेलियाँ बेलो में/ढो ले आती ठंडी बयार, सोंधी सुगंध (डॉ. रामविलास शर्मा, 'दिवा-स्वप्न, वही)। गिरिजा कुमार माथुर ने तो कमाल ही कर दिया था— 'आज है केसर रँग रँगे बनो, 'रुककर जाती हुई रात', 'चूड़ी का टुकड़ा', 'रेडियम की छाया'

'क्वाँर की दोपहरी', 'भीगा दिन' आदि में कितने सारे समिश्र 'एसोसियेशन' हैं। कविता अब पचेन्द्रियों का परमोत्सव बन गई। केवल विचारों या मत प्रचार का घोषणापत्र नहीं। (जैसे 'अंचल', 'सुमन', नरेंद्र शर्मा तब लिख रहे थे), और केवल काल्पनिक रंगीनियों की रीतिकालीन जुगाली नहीं (पंत, रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट तब उसी में 'मग्न' थे)। ये नये बिंब विश्वसनीय थे, 'अथेंटिक' थे।

अब इसी बात को हम 'तारसप्तक' के दूसरे संस्करण (१९६६) में हम सात कवियों के पुनर्वक्तव्यों के विश्लेषण: से पाते हैं कि जो आलोचक गोलमोल ढंग से 'अज्ञेय' और उनके छह सहयोगियों को एक ही डंडे से हाँकते रहे, वे कितने गलत थे और हैं। नेमिचंद्र जैन ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि 'तारसप्तक' कोई आंदोलन नहीं था, और बाद के सप्तकों में 'अज्ञेय' जी ने इसका श्रेय केवल अपने ऊपर ले लिया। रामविलास शर्मा तो प्रथम संस्करण के वक्तव्य में ही कह चुके थे कि 'आशा है, यह प्रकाशन अब अंतिम होगा'। दूसरे संस्करण में वे लिखते हैं 'मेर पास कोई अप्रकाशित कविता नहीं'। यानी ये दोनों सज्जन मार्क्सवादी आंदोलन से किस मात्रा में पास या दूर रहे, या राष्ट्रीय स्वाधीनता के आंदोलन से किस मात्रा में पास या दूर रहे, या राष्ट्रीय स्वाधीनता के आंदोलन में और बाद में इनकी क्या आस्था, त्याग और सेवा की भूमिका रही, यह विषय छोड़ भी दें, फिर भी कविता के सृजन-कर्म से वे दूर हटते चले गये और केवल जीवनी-इतिहास-आलोचना लेखन, और नाट्यालोचन में ही उनकी परिणति हुई। जो अब जीवित नहीं हैं, जैसे भारत भूषण और मुक्तिबोध उनके वक्तव्य पुन: पढ़ने पर लगता है कि दोनों ही काफी मोहभंग की अवस्था में थे, अपने पुराने साम्यवादी रूप से भिन्न :

भारत भूषण (पुनश्च:) 'पर नहीं, कविता अस्त्र नहीं है न मूल्यवान, न अमूल्य। कविता को अस्त्र मानकर चला ही था (जागते रहो) कि मैं स्वयं अस्त्र बन गया।' ने 'विभक्ति युग के 'जीवनयापन के लिए तरह-तरह की कलाबाजियाँ करने वाले' तुक्तक-कवि बनकर रह गये।

मुक्तिबोध (पुनश्च) :
'उचटता ही रहता है दिल,
नहीं ठहरता कहीं,
ज़रा भी।
यही मेरी बुनियादी खराबी।

सारांश, 'तारसप्तक' का यदि कोई अवदान था तो उसे निभाने वाले 'अज्ञेय' अब नहीं रहे। वे भी दूसरे संस्करण तक आते-आते काफी बदल गये थे। **अपनी ज़मीन पर सिर्फ टिके रहे गिरिजाकुमार माथुर**। उनकी १९४३ और १९७९ की कविताओं में कोई विसंगति नहीं है। अपने बारे में केवल इतना ही कि अंग्रेजी साहित्य, दर्शन, मार्क्सवाद और गांधीवादी विचारधाराओं की अध्ययन के पीठिका पर मैंने १९३८-३९ से ही नये विषय और शैली और मुड़ चला था। मैंने कवि-कर्म छोड़ नहीं दिया है। न उससे छुट्टी ही कर ली है जैसे बाकी चार सप्तकों के अनेक जीवित कवियों ने किया उनके लिए कविकर्म कोई मार्क्सवाद का प्रचार नहीं था, न समाज बदलने का अस्त्र आदि। वह शुद्ध दिमागी शगल था, बौद्धिक विलास मात्र।

'अज्ञेय' यही चाहते थे कि 'साम्यवादी' अपने आपको मानने वाले हम तथाकथित क्रांतिकारी (?) कवियों के भीतर का आत्मवाद उनकी कविता के बहाने, स्पष्ट कर दें। वे मानों कहते थे—बहुत हो चुका 'सहोद्योगो, कविता तो नितांत निजी, और 'एकांत', 'रस-

तरंग' है। यह आकस्मिक नहीं कि तारसप्तक के सबसे अधिक 'प्रतिबद्ध' माने जाने वाले दो कवियों ने भी चंद्र जैन (एकांत) और रामनिवास शर्मा (रस-तरंग) के एकमात्र प्रकाशित काव्य-संग्रहों के ये दो शीर्षक हैं। मुक्तिबोध का मरणोपरांत संग्रह छपा 'चाँद का मुंह टेढ़ा है'। मेरा तो १९६३ के बाद संग्रह ही नहीं छपा किसी प्रकाशक ने माँगा नहीं, मैंने दिया नहीं। हम सातों में आज जो कवि अभी भी बराबर लिख रहा है और भारतीय कविता १९८४ में जिसकी लंबी रचना छपी है, वह है **गिरिजाकुमार माथुर**। और वह 'अज्ञेय' से बहुत भिन्न है, दूसरे ही रंग का कवि है। 'भग्नदूत' (१९३३) से 'ऐसा घर कहीं देखा है' (१९८५) तक 'अज्ञेय' की काव्ययात्रा है। 'मंजीर' (१९४१) से 'साक्षी रहे वर्तमान' (१९७९) तक गिरिजाकुमार माथुर की काव्य-विकास प्रक्रिया दृष्टव्य है।

'अज्ञेय' ने 'हेमंत के गीत' में लिखा—

अनदेखे लाद ले गया है अपनी झोली में
काल का गली छानता हुआ कबाड़ी
न जाने कितने दिन, कितने क्षण
कितनी अंतहीन अनकही और अधूरी कही बातें......

पर **गिरिजाकुमार माथुर** की काल के विषय में धारणा और है, जैसे 'इतिहास के जर्राहों से' में वह मानव-निर्मित है —

'पर इतिहास के पहिए
हांके जाते नहीं हैं
किसी बाहरी गणित से..........
बेबाक इस हिसाब में
ऐसा अक्सर हो जाता है
अदा किये हुए पार्ट आपस में बदल जाते हैं
कत्ल किये हुए नाम फिर जिंदा हो जाते हैं
जो कल तक थे जज वही मुर्जारम हो जाते हैं।

(भारतीय कविता, १९८४, कें. हि. निदेशालय,) पृ. ५०९

डॉ. राम विलास शर्मा ने तो 'तारसप्तक' के अपने वक्तव्य में आत्म-स्वीकृति दे दी थी— 'मैं उन्हें (अपरिचित पाठक-मित्रों को) एक बात का आश्वासन देना चाहता हूं : जैसे वे मेरी कविताओं के बारे में 'सीरियस' नहीं हैं, वैसे मैं भी नहीं हूं। मैंने कई बार सोचा, प्रेम-संबंधी कविताएँ भी लिखनी चाहिए, लेकिन शायद एक-आध बार से अधिक इस बार रुझान नहीं हुआ। और जिसके हृदय में प्रेम की नदी न बहे, वह कवि ही क्या?' (तारसप्तक)

अब 'अज्ञेय' की प्रेम-संबंधी स्वीकृति देखिये — ('पुनश्च: तारसप्तक') पृ. ३१०

'प्रेम और यौन वर्जनाओं के विषय में जो कुछ कहा था उसमें, उस समय, कदाचित कुछ सफाई देने का भी भाव मन में था। अब वह नहीं है। इसलिए नहीं कि अब साधारण व्यक्ति के बारे में मेरी धारणा बदल गयी है। मैं अब भी कह सकता हूं, क्योंकि देखता हूं कि 'आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुंज है' 'अज्ञेय' बार-बार प्रेम के मामले में, काल के बारे में भारत की नित्य-अनित्य वाली दोहरी दृष्टि की बात करते हैं।

'अज्ञेय' ने 'सर्जना' के क्षण' नामक अपना एक संकलन १९८४ में 'भारतीय साहित्य सदन', मेरठ से प्रकाशित किया। उसकी भूमिका में वे छायावाद की भूमिका और उसकी सीमाएँ यों स्पष्ट की —

> 'छायावाद ने जो भाषा गढ़ी थी, वह व्यक्ति के अनुभूत, अभ्यंतर यथार्थ को सामने लाने के लिए गढ़ी थी, वाचिक परंपरा की कृतात्मक रीति में वही सबसे कठिन काम और कवि की सबसे बड़ी जरूरत था। परवर्ती कवि के लिए 'अपनी' बात कहना कठिन नहीं रहा था उसका रास्ता छायावादी खोल चुका था और उपयुक्त भाषा का ढाँचा भी वह खड़ा कर चुका था। पर सामाजिक अनुभूतियों के, बाह्य यथार्थ के प्रस्तुतीकरण के लिए न छायावादी के शब्द पर्याप्त थे, न उसकी भाषा।'

इसी तर्क को आगे बढ़कर 'अज्ञेय' काव्य में सपाटबयानी और इकहरी भाषा का फिर से विरोध करते हैं। और इस बात को दुहराते हैं कि 'कविता कविता में से निकलती है।' वे यह कबूल करते हैं कि 'छायावाद के प्राय: सभी प्रमुख कवि संगीत में भी गति रखते थे। हमारे समाज में ऐसा नहीं है कि काव्य-वाचन कभी सुना न हो पर वह प्रमुखत: श्रोता नहीं, पाठक है, जैसे कि कवि प्रमुखत: वाचक नहीं, पाठक है।'

'अज्ञेय' की कविता में यह रागात्मक तत्व, यह संगीत, यह लय नकारा गया है। बहुत कम 'गीत' अज्ञेय ने लिखे। गिरिजाकुमार माथुर में गीत-तत्व बराबर मौजूद है। भवानी प्र. मिश्र में वह है। वह रूमानी गीतात्मक तत्व 'कनुप्रिया' के लेखक धर्मवीर भारती में है। हरिनारायण व्यास और केदारनाथ सिंह में है। 'अज्ञेय' की मृत्यु के तीन महीने बाद हम उनके काव्यावदान पर विचार करते हुए उनकी सीमा और सामर्थ्य को स्पष्ट करना चाहते हैं। मैं उनका प्रशंसक भी रहा हूँ, और आलोचक भी। 'अज्ञेय' की कविता के निम्न गुण मुझे विशेष आकर्षित करते हैं :

प्रकृति चित्रण की उनकी विलक्षण क्षमता। 'सर्जना के क्षण' में उन्होंने अपनी ५१ कविताएँ चुनी हैं और उनमें इतने सारे कविता-शीर्षक प्रकृति-परक हैं : 'ये मेघ साहसिक सैलानी 'पहला दौंगरा' 'मरु और खेत', 'बंधु हैं नदियाँ', 'कलगी बाजरे की', 'कतकी पूनो', 'क्वाँर की बयार', 'प्रथम किरण', 'हवाएँ चैत की', 'दूर्वांचल', 'कितनी शांति! कितनी शांति! 'महानगर : कुहरा', 'मैंने देखा, एक बूँद', 'चिड़िया ने ही कहा' आदि। प्रकृति को वह एकदम टटके, नये, अदृश्य अंदाज से देखते हैं। यह अजब नहीं कि हिंदी कविता संग्रह का नाम उन्होंने 'पुष्करिणी' और सुमित्रानंदन पंत की पुष्ठिपूर्ति पर ग्रंथ का नाम 'रूपाम्बरा' रखा।

समाज के प्रति उनकी चिंता जनतांत्रिक है, वर्गाश्रित नहीं। आभिजात्य उनमें अवश्य है। पर वे बार-बार कहते हैं 'अच्छा अपना ठाठ फकीरी, मँगनी के सुख-साज से'। उनके इसी संग्रह में वे 'हरा-भरा है देश', 'बाँगर और खादर', 'जनवरी छब्बीस', 'मैं वहाँ हूँ', 'हवाई यात्रा' चुनते हैं। वैसे उनके अन्य संग्रहों में कई कविताएँ जिसमें उनकी सहानुभूति दलित और शोषित वर्ग के प्रति स्पष्ट है।

वे धर्म के प्रति उदासीन नहीं हैं। वे अध्यात्मवादी नहीं हैं। परंतु धीरे-धीरे वे 'अरी ओ करुणा प्रभामय', 'साम्राज्ञी का नैवेद्य', 'असाध्य वीणा', 'उत्तर प्रियदर्शी' और अंतिम संग्रहों में कई 'जैन' बौद्ध विषयों के प्रति आकृष्ट होते जाते हैं। कई कविताएँ वे पहेलियाँ बुझाने की तरह लिखते हैं। यह मानवतावाद से 'नव्य-रहस्यवाद' की ओर उनकी अंतर्यात्रा है। परंतु वे 'अस्तित्ववादी' नहीं हैं। योरोपीय अस्तित्ववाद शून्यवाद, सर्वसंशयवाद में परिणत होता है। परंतु 'अज्ञेय' आस्था के कवि हैं, श्रद्धा के नहीं। वे प्रज्ञा में विश्वास रखते हैं, ब्रह्मराक्षस या मिथकों में नहीं।

ऊपर जो आधुनिक हिंदी कविता को 'अज्ञेय' जी के दिये हुए नये मोड़ की बात अधोरेखित की

गई, वही उनकी सीमा भी बन जाती है। प्रकृति धीरे-धीरे 'निर्जन', प्रायः मानवी-संस्पर्श-विहीन होती जाती है। वे 'अरूप' की ओर बढ़ते जाते हैं। उदाहरण के लिए उनकी कविता 'उधार' देखें। धूप, चिड़िया घास की पत्ती, शंखपुष्पी, हवा, लहर, आकाश से कवि गरमाई, मिठास, हरियाली, उजाला, खुलापन, लोच, उल्लास', माँगता है। अंत में सपने में 'एक अनदेखें अरूप ने कवि से' प्यार उधार माँगा। और वह अनदेखा अरूप कहता है—'हाँ, क्योंकि ये ही सब चीज़ें तो प्यार हैं—

'यह अकेलापन, यह अकुलाहट,
यह असमंजस, अचकचाहट,
आर्त अनुभव,
यह खोज, यह द्वैत, यह असहाय
विरह, व्यथा,
यह अंधकार में जागकर सहसा पहचानना
कि जो मेरा है वही ममेतर है।'

यही 'अज्ञेय' की कविता की सबसे बड़ी कठिनाई है, गाँठ है, या कहें कि अनिवार्य कमजोरी है कि वे 'ममेतर' के प्रति 'मम' के संपूर्ण समर्पण में विश्वास तो करते हैं, पर उनका 'मैं' 'हम' नहीं हो पाता। 'तारसप्तक' की पहली कविता 'जनाह्वान' में उन्होंने कहा था—'मैं के झूठे अहंकार ने हराया मुझे' और 'सर्जना के क्षण' की अंतिम कविता में वे पुनः लिखते हैं—'एक क्षण भर और : लंबे सर्जना के क्षण कभी भी हो नहीं सकते। ....बरस बरस पर बीतें एक मुक्ता-रूप को पकते। 'अज्ञेय' क्षणवाद और क्लासिक क्षणातीत के बीच में 'नाव' की तरह झूलते रहते हैं। बड़ा अच्छा और सधा हुआ उनका यह रस्सी पर नाच है, पर लगता है क्षणिक शब्दों की बाजीगरी मात्र है।

उनके निबंधों में व्यक्ति के स्वातंत्र्य और युग या समाज के द्वंद को बार-बार उन्होंने उठाया है, और वे सदा व्यक्ति की ओर ही झुकते रहे हैं। कभी वे समाजवादी थे, पर धीरे-धीरे वे 'पालिटिक्स विदाआउट पावर' और 'पार्टीलेस डेमाक्रेसी' की ओर झुकते गये। उन्हें हर समूह आश्रित संस्था में तानाशाही और व्यक्ति स्वातंत्र्य के हनन का संदेह होने लगा। परिणाम यह हुआ कि अंत में वे 'जानकी जीवन खोज की पदयात्रा' और 'कहाँ है द्वारका' जैसे अभियानों में समानधर्माओं की खोज करते रहे। सारस्वत ब्राह्मण पुत्र अंत में उसी अद्वैत के शोध में समाहित हो गये। कविता द्वैत की उपज है। 'यह दीप अकेला स्नेह भरा' पंक्ति का नहीं हो सका। 'संस्पर्श वृहत का उतरा सुरसरिसा : हम बह न सके।' (योगफल) एक और कविता 'मानव अकेला' इसका पूरा साक्ष्य है :

भीड़ों में
जब-जब जिस-जिस से आँखें मिलती हैं
वह सहसा दिख जाता है
मानव
अंगारे-सा -भगवान-सा
अकेला।
और हमारे सारे लोकाचार
राख की युगों की परतें हैं।

अभी समय नहीं आया है कि 'अज्ञेय' की हिंदी कविता को देन का पूरा समीक्षात्मक जायजा लिया जाये। परंतु इतना सच है कि 'अज्ञेय' नहीं होते तो हिंदी कविता लिजलिजे, भावुक, गलदश्रु,

छद्म गीतात्मकता में ही भटकती रहती, या फिर ओढ़ी हुए क्रांतिकारिता के झूठे तेवर में नारेबाज़ी में ही खो जाती। उन्होंने इन दोनों छायावादी और प्रगतिवादी 'अतियों' से हिंदी कविता को उबारा और तीसरी दिशा दिखाई। यह एक उस समय की ऐतिहासिक अनिवार्यता थी। 'अज्ञेय' ने अकेले यह नहीं किया। उनके साथ कई अन्य युवा कवि थे। यह नया प्रयोग एक 'सहयोग' था। यह 'अज्ञेय' के अंध अनुयायी, नये छुटभैये और नकलची भूल गये। 'अज्ञेय' को उन्होंने 'गुरु' और 'नाना' बनाना चाहा। वह उनकी छवि गलत है। ये रहस्यवादी या अध्यात्मवादी नहीं थे। कविता में वे मैथिलीशरण गुप्त को गुरु मानते थे। 'बच्चन' और 'दिनकर' को एक अन्य लेख में वे बड़ा कवि नहीं मानते। अपने अलावा 'नवधा' में ये आठ कवि उन्होंने चुने हैं : शमशेर बहादुर सिंह, भवानी प्रसाद मिश्र, गजानन मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता, जगदीश गुप्त, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और रघुवीर सहाय। यह संग्रह जगदीश गुप्त के सह-संपादकत्व में पाठ्य-पुस्तक की तरह बनाया गया है। १९८६ में, भारतीय साहित्य प्रकाशन मेरठ ने इसे छापा है। 'अज्ञेय' ने भूमिका में स्व. धूमिल का नाम लिया है। 'अज्ञेय' का कवि और आलोचक इस तरह से दो भिन्न दिशाओं में बढ़ता हुआ नज़र आता है।

सब युग-गत और व्यक्तिगत मर्यादाएँ होने पर भी 'अज्ञेय' ने आधुनिक हिंदी कविता के चिंतक और द्रष्टिकार के रूप में इतिहास में गये चार दशकों में एक बड़ी छाप छोड़ी है। मैं, व्यक्तिगत रूप से उनके निकट रहा हूँ, उनका आभारी हूँ : १९३९ से 'विशाल भारत' में उन्होंने मेरी 'देहाती मेले में और 'अर्थशास्त्र' (दो इंप्रेशनिस्ट कविताएँ), 'अश्वत्थ', 'देशोद्धारकों से', और 'प्रतीक' में 'कछुआ' और 'टेलीफोन' कविताएँ छापीं— अनेक लेख और समीक्षाएँ प्रकाशित कीं, कहानियाँ भी। मैंने उनके लेखन से बहुत अवगाह न किया पर मैंने 'मैं' शैली अपनाई। हर कोई एक 'निराला' (अकेला) होता है। पर क्या वह सदा 'अज्ञेय' ही रहता है? इस प्रश्न का उत्तर अब आगे आने वाली पीढ़ी देगी। □

महामौन की ओर

'अज्ञेय' के माध्यम से वात्स्यायन की खोज

डॉ. रणवीर रांग्रा

अज्ञेय बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनके पंद्रह कविता-संग्रह, सात कहानी-संकलन, तीन उपन्यास, बीस निबंध-संग्रह, दो यात्रावृत्त और दो डायरी-संकलन प्रकाशित हो चुके हैं। उनका व्यक्तित्व भी बहु-आयामी था। क्रांतिकारी और घुमक्कड़ तो वे थे ही। हरफनमौला भी वे गज़ब के थे। लेखन और चित्रांकन से लेकर माली, बढ़ई, रसोइए का काम भी वे बढ़िया ढंग से और खुशी-खुशी कर सकते थे। शानोशौकत से रहना उन्हें पसंद था, पर ऐसी सुविधा न रहने पर वे मस्तमौला-फक्कड़ की तरह भी मज़े में रह सकते थे। उनकी पसंद और नापसंद दोनों प्रबल थीं। अपने चकरीले-पथरीले जीवन में उन्होंने अपने आस-पास मित्र-मंडली भी खूब जमाई और शत्रु भी अनगिनत पैदा किए। उनके प्रशंसक और निंदक बेशुमार हैं।

अपने को वे मूलत: कवि मानते थे। नयी कविता के प्रवर्तकों में उनकी गिनती होती है। पर अनेक उत्कृष्ट रचनाओं के बावजूद उनकी कविता कई प्रवादों का शिकार बनी, जबकि उनके कथा-साहित्य ने उनकी छवि को चमकाया है। मुझे तो यह भी लगता है कि उनकी धवल कीर्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए उनका कथा-साहित्य ही पर्याप्त है। 'रोज', 'जयदोल', 'हीलीबोन की बत्तखें', 'पठार का धीरज', 'शरणदाता', 'बदला' आदि उनकी बेजोड़ कहानियाँ तथा 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' नामक अनुपम उपन्यासों की गणना विश्वसाहित्य की श्रेष्ठ कथा-कृतियों में की जा सकती है। उनके कथाकार ने बस एक जगह मात खाई है। वायदा करके भी, अज्ञेय और उनके पाठकों के लाख चाहने पर भी, वह 'शेखर : एक जीवनी' का तीसरा भाग प्रकाश में नहीं ला सके।

अज्ञेय के ये दोनों उपन्यास, विशेषकर 'शेखर : एक जीवनी', आत्मकथा-परक रचनाएँ हैं। उनमें आत्मकथा-तत्त्व कितना है और उसके सहारे लेखक के अपने विकास-सूत्रों को कहाँ तक पहचाना और परखा जा सकता है, इसके लिए उन उपन्यासों की रचना तक अज्ञेय के जीवनवृत्त की संक्षिप्त जानकारी आवश्यक होगी। वे पंजाब में जालंधर के निकट कर्तारपुर के भणोत सारस्वत ब्राह्मणकुल के थे। उनके पिता डॉ. हीरानंद शास्त्री भारत सरकार के पुरातत्व विभाग के उच्च अधिकारी थे। वे संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे और स्वाभिमानी एवं अनुशासनप्रिय भी। वे प्राय: दौरे पर रहते थे। कसिया (देवरिया) के एक पुरातत्व खुदाई शिविर में ७ मार्च, १९११ को अज्ञेय का जन्म हुआ। उनका बचपन सन् १९११ से १९१५ तक लखनऊ में तथा १९१५ से १९१९ तक जम्मू और कश्मीर में बीता। १९१८ में वे पिता के साथ नालंदा आए जहाँ पिता ने उन्हें हिंदी लिखाना शुरू किया। उनकी शिक्षा घर पर ही संस्कृत की मौखिक परंपरा से प्रारंभ हुई थी। घर पर ही उन्होंने

पंडित से रघुवंश, रामायण, हितोपदेश आदि पढ़े तथा मौलवी से शेख सादी और पादरी से अंग्रेज़ी की शिक्षा शुरू की। उनके मानसिक विकास में माता की अपेक्षा पिता का योगदान अधिक रहा। बचपन में वे छोटी बुआ और बड़ी बहन के अधिक स्नेहभाजन रहे। उनका उपनयन संस्कार १९२१ में उड़ीसा के माधवाचार्य द्वारा हुआ और उसी समय 'भणोत' से 'वात्स्यायन' बने। जलियांवाला बाग कांड के आस-पास ही उन्होंने अपनी माँ के साथ पंजाब की यात्रा की जिससे उनके भीतर अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह का बीजारोपण हुआ। १९२५ में उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय से प्राइवेट मैट्रिक पास किया। फिर विज्ञान में इंटर पास किया क्रिश्चियन कॉलिज, मद्रास से १९२७ में। १९२९ में उन्होंने फोरमन क्रिश्चियन कॉलिज, लाहौर से बी.एस.सी. किया और इसी दौरान चंद्रशेखर आजाद, सुखदेव, भगवतीचरण वोहरा जैसे प्रसिद्ध क्रांतिकारियों के संपर्क में आए। सन् १९२९ में उन्होंने एम.ए. (अंग्रेज़ी) प्रथम वर्ष में दाखिला लिया, पर बढ़ती हुई क्रांतिकारी गतिविधियों के कारण पढ़ाई बीच में ही छूट गई। दिल्ली में क्रांतिकारी मित्रों के साथ बम फैक्टरी शुरू की। ऐसी ही एक फैक्टरी अमृतसर में भी खोलने के प्रयास में वहाँ १५ नवंबर, १९३० को पुलिस द्वारा पकड़ लिए गए। एक महीना लाहौर के किले में बंद रहे और फिर अमृतसर हवालात में। १९३१ से १९३३ तक दिल्ली में मुकदमा चला। दिल्ली-जेल की काल-कोठरी में 'शेखर : एक जीवनी' नामक उपन्यास ने जन्म लिया। १९३४ में जेल से छूटे तो अपने ही घर में नज़रबंद कर दिए गए।

उन्होंने १९३६ में आगरा में 'सैनिक' का संपादन किया। १९३७ में वे. पं. बनारसीदास चतुर्वेदी के आग्रह पर 'विशाल भारत' में गए और लगभग डेढ़ वर्ष तक उसका संपादन किया। फिर पहली बार रेडियो में नौकरी की। १९४२ में सेना में कमिशन लिया और असम-बर्मा फ्रंट पर तैनात हुए। १९४६ में वे सैनिक सेवा से निवृत्त हुए। १९४७ से १९५० तक 'प्रतीक' का संपादन किया तथा १९५० से १९५५ तक आकाशवाणी, नई दिल्ली में नौकरी की। १९६१ से १९६४ तक वे कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले में विजिटिंग प्रोफेसर रहे। वे १९६४ से १९६९ तक 'दिनमान' के और १९७७ से १९७९ तक 'नवभारत टाइम्स' के संपादक भी रहे।

उन्होंने १९२४ में पहली कहानी लिखी और १९२७ में पहली कविता। उनकी प्रमुख कृतियों का प्रकाशनक्रम यों रहा— 'विपथगा' (कहानी-संग्रह : १९३७), 'शेखर : एक जीवनी', भाग-१, (उपन्यास : १९४१), 'तारसप्तक' (कविता संकलन : १९४३), 'शेखर : एक जीवनी', भाग-२, (उपन्यास : १९४४), 'इत्यलम' (कविता-संग्रह : १९४६), 'प्रिजन डेज एंड अदर पोयम्स' (कविता-संग्रह : १९४६), 'हरी घास पर क्षणभर' (कविता-संग्रह : १९४९), 'बावरा अहेरी' (कविता संग्रह : १९५४), 'नदी के द्वीप' (उपन्यास : १९५२), 'अरे यायावर, रहेगा याद?' (यात्रावृत्त : १९५३), 'जयदोल' (कहानी-संग्रह : १९५१), 'इन्द्रधनुष रौंदे हुए ये' (कविता-संग्रह : १९५७), 'अरी ओ, करुणा प्रभामय' (कविता-संग्रह : १९५९) 'आत्मनेपद' (निबंध : १९६६), 'अपने-अपने अजनबी' (उपन्यास : १९६१), 'एक बूंद सहसा उछली' (यात्रावृत्त : १९६०), 'आंगन के पार द्वार' (कविता-संग्रह : १९६१ साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत), 'सुनहले शैवाल' (कविता-संग्रह : १९६५), 'कितनी नावों में कितनी बार' (कविता-संग्रह : १९६७ - भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा पुरस्कृत) 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ' (कविता-संग्रह : १९६९), 'सागरमुद्रा' (कविता-संग्रह : १९७०) 'भवंति' (डायरी : १९७२), 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' (कविता-संग्रह : १९७३), 'महावृक्ष के नीचे' (कविता-संग्रह : १९७७), 'नदी की बांक पर छाया' (कविता-संग्रह : १९८२)।

अज्ञेय का पूरा नाम था सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन। वे इसे अपने उपनाम 'अज्ञेय' से अलग ही रखते थे। यदि कोई उनका पूरा नाम लिखने के प्रयास में सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन

'अज्ञेय' लिख देता हो वह उन्हें अखरता। यह शायद विद्वान पिता के सान्निध्य में दक्षिण-प्रवास का प्रभाव था कि वे अपने नाम के बाद पिता का नाम भी जोड़ते थे। उनका कुलनाम तो था 'भणोत', पर उपनयन संस्कार में उड़ीसा के माध्वाचार्य ने उनके गोत्र 'वत्स' के आधार पर उन्हें जो 'वात्स्यायन' नाम दिया उसे ही उन्होंने सरनाम के रूप में अपना लिया। 'अज्ञेय' उपनाम उन्हें जैनेंद्रकुमार से मिला। यह कैसे हुआ, इसका विवरण जैनेंद्रजी के शब्दों में यों है :

'उन्हीं दिनों क्रांतिकारी हलचलों के दौरान सच्चिदानंद वात्स्यायन का दिल्ली में केस चल रहा था। वे जेल में थे। जेल में उनकी चिट्ठियाँ आने लगीं। रचनाएँ आने लगीं। भाव कुछ इस तरह का था कि ये रचनाएँ छप सकती हैं? मैंने तब प्रेमचंद को उनकी एक कहानी भेज दी। वे साप्ताहिक 'जागरण' निकालते थे। मैंने सोचा वात्स्यायन ने जेल से रचनाएँ भेजी हैं इसलिए हो सकता है उनका नाम ठीक न हो। इसीलिए 'अज्ञेय' लिख दिया। उन्हीं दिनों 'विशाल भारत' का एक कहानी-विशेषांक निकलने वाला था। वहां से मैंने बनारसीदास चतुर्वेदी को वात्स्यायन की एक कहानी भेज दी अज्ञेय के नाम से। इस तरह वात्स्यायन से मेरा परोक्ष परिचय हुआ था।

'तब जेल से वात्स्यायन के मुझे कई पत्र मिले थे। एक पत्र में उन्होंने लिखा कि आपसे मिलने की बड़ी इच्छा है। क्या किया जाए कोई उपाय नहीं है। एक ही रास्ता हो सकता है। सेशन कोर्ट में फलां तारीख को हमारा केस है। तय है कि कोर्ट में अपराध सिद्ध होने के तत्काल बाद हमें जेल से कहीं और भेज दिया जाएगा। बड़ा अच्छा हो कि आप कोर्ट में मिलने आ जाएँ।

'तब मैं सदर पहाडी धीरज में रहता था। सेशन कोर्ट वहाँ से दूर नहीं था। अदालत में मैंने देखा वात्स्यायन के हथकड़ियाँ लगी हैं और पुलिस पास खड़ी है। जब हथकडियाँ खुल गई तो हम लोग वहीं बैठ गए। बातचीत हुई। वह दृश्य आज भी मेरी आँखों के सामने है।

'जब वात्स्यायन को पता चला कि मैंने उनका नाम 'अज्ञेय' रख दिया है, तो उन्होंने शुरू में नाखुशी ज़ाहिर की। लिखा—'मेरा तो पहले से ही एक उपनाम है—'श्रीवत्स'। आपने मुझे देखा नहीं है। श्रीवत्स का एक अर्थ हाथी भी होता है। आप देखेंगे तो लगेगा कि यह नाम भी सार्थक ही था।

'कुछ दिनों तक वात्स्यायन असमंजस में रहे। लेकिन बाद में उन्होंने 'अज्ञेय' उपनाम अपना लिया।' (नव भारत टाइम्स'—९ मार्च, १९८६)।

उन्होंने स.ही. वात्स्यायन और 'अज्ञेय' दोनों नामों से लिखा है और प्रारंभिक काल में 'कुट्टिचातन' और अन्य लेखन 'स.ही. वात्स्यायन' नाम से। इस विभाजन से कभी-कभी विवादास्पद स्थिति भी उत्पन्न हो जाती थी। विशेषतः जब से स.ही. वात्स्यायन नाम से 'अज्ञेय' की रचनाओं पर टीका-टिप्पणी करते। साहित्य अकादमी द्वारा १९५७ में प्रकाशित पुस्तक 'कंटेपररी इंडियन लिट्रेचर' में संकलित उनका लेख 'हिंदी लिट्रेचर' इसका ज्वलन्त उदाहरण है, जो 'सही. वात्स्यायन' नाम से छपा था। उसमें 'उत्तम पुरुष' में 'अज्ञेय की कृतियों चर्चा की थी। उस लेख पर हिंदी-जगत में खूब बावेला मचा था।

'अज्ञेय' के उपन्यास वर्गसंघर्ष के उपन्यास नहीं, न वे व्यक्ति और व्यक्ति के संघर्ष के ही उपन्यास हैं। आज के अनिश्चय, अव्यवस्था और जटिलता के युग में 'एक व्यक्ति के भीतर जो अनेक बहुमुखी व्यक्तित्व उभर आए हैं और उनके कारण उसमें जो संघर्ष चल रहा है, मानवता के संचित अनुभव के प्रकाश में ईमानदारी के साथ उसे पहचानने की कोशिश करना' ही उनके उपन्यासों का लक्ष्य है। इस प्रकार उनके उपन्यास व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास बन गए हैं। अज्ञेय की रुचि सदा व्यक्ति में ही रही है। सामाजिक दृष्टि को वे गलत नहीं कहते, पर उसे निर्णायक भी नहीं मानते।

उनकी धारणा है कि व्यक्ति को दबा कर किसी मामले का जो भी निर्णय होगा, वह गलत होगा, घृण्य होगा, असह्य होगा। 'नया समाज' के मई, १९५२ अंक में प्रकाशित अपने लेख 'नदी के द्वीप' एक परिचय' में उन्होंने यह विश्वास व्यक्त किया था कि 'व्यक्ति अपने सामाजिक संस्कारों का पुंज भी है, प्रतिबिंब भी, पुतला भी। उसी तरह वह अपनी जैविक परंपराओं का भी प्रतिबिंब और पुतला है जिन परिस्थितियों से वह बनता है, उन्हीं को बनाता और बदलता भी चलता है। वह निरा पुतला, निरा जीव नहीं है, वह व्यक्ति है, बुद्धि विवेक-संपन्न व्यक्ति।'

अपनी एक प्रसिद्ध कविता 'नदी के द्वीप' में अज्ञेय ने व्यक्ति और समाज के संबंधों को लेकर एक रूपक भी बांधा है : 'हम नदी के द्वीप हैं/हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाए। /वह हमें आकार देती है।/हमारे कोण, गलियाँ, अंतरीप, उभार, सैकत-कूल/सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं।/मां है वह, इसी से हम बने हैं।/किंतु हम हैं द्वीप/हम धारा नहीं हैं/स्थिर समर्पण है हमारा/हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के किंतु हम बहते नहीं हैं/क्योंकि बहना रेत होना है।/हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।'

'शेखर : एक जीवनी' घनीभूत वेदना की केवल एक रात में फांसी की कोठरी में पड़े एक क्रांतिकारी का अपने गत जीवन का प्रत्यवलोकन है। वह जानना चाहता है कि वह जैसा है, वैसा हुआ क्यों। इस खोज में वह भावुकता से काम न लेकर जीवन की विज्ञान-संगत कार्यकारण प्रणाली यानी आत्म-विश्लेषण की अनासक्त निर्ममता से अपनाता है। इस तरह व्यक्तित्व का क्रमिक विकास इस उपन्यास का मुख्य विषय बन जाता है। इसके दो भाग हैं। पहले नायक शेखर के बाल्यकाल का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है— बाल्यकाल की परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से उसके चरित्र का विकास और फिर उसके निमित्त उन परिस्थितियों की आलोचना। शेखर यदि अंततोगत्वा एक सशक्त क्रांतिकारी बन सका तो वह निश्चय ही एक असाधारण बालक रहा होगा। वह जन्म से ही विद्रोही था और उसकी परिस्थितियाँ भी ऐसी बनती गईं कि उसके भीतर का विद्रोहबीज उत्तरोत्तर पनपता गया। स्वभाव से ही वह विनीत न बनकर स्वेच्छाचारी और विद्रोही बना, उसके माता-पिता का स्वभाव, भाई-बहनों में उसका स्थान, घर के विधि निषेधात्मक नियम तथा उसकी पढ़ाई-लिखाई, खेलकूद, सखा-साथी आदि की परिस्थितियाँ भी उसी प्रकार की बनती गईं कि उसका सामाजीकरण गति न पकड़ सका और उसका विद्रोही स्वभाव उग्र से उग्रतर होता गया। शेखर में सहज बुद्धि की कमी नहीं थी, पर उस बुद्धि की प्रवाहगति का निर्देश करने वाली शक्ति संसार में नहीं थी। वह बुद्धि उसकी थी, उसके प्रयोग के लिए थी, वह उसका मनचाहा उपयोग करता था और वह जानता था कि जहाँ अपनी सहज बुद्धि की प्रेरणा को माना वहाँ उसने उचित किया और जहां उसकी बुद्धि को दूसरों ने प्रेरित किया वहीं वह लड़खड़ा गया।'

शेखर के इस अहंभाव की पुष्टि जहाँ एक ओर उसके घर के वातावरण और उसके माता-पिता तथा भाई-बहनों के उसके प्रति व्यवहार से हुई, वहाँ उसे दृढ़ से दृढ़तर बनाते रहने के लिए मद्रास की एंटीगोनम क्लब के राघवन, सदाशिव आदि सदस्यों, रात्रि पाठशाला के विद्यार्थियों, कांग्रेस अधिवेशन-शिविर के स्वयं सेवकों तथा मोहसिन, रामजी विद्याभूषण आदि जेल के अन्य व्यक्तियों का योगदान भी रहा। विद्याभूषण से उसे नई दृष्टि मिली कि 'अभिमान या अहंकार एक सामाजिक कर्तव्य भी हो सकता है।' उसकी प्रचंड विद्रोह-भावना के उन्नयन में बाबा मदन सिंह की भी प्रबल प्रेरणा रही। बाबा से उसने जाना कि 'अहिंसात्मक रक्तपात' भी हो सकता है। शेखर के व्यक्तित्व के क्रमिक निर्माण में इन सबका महत्वपूर्ण योग रहा। फिर, उसकी मौसेरी बहन शशि भी उसकी प्रमुख प्रेरणा बनी। उपन्यास में शशि का अपना व्यक्तित्व भी बहुत प्रभावशाली बन आया है, पर शेखर के

निकट उसका स्थान 'उस सान से अधिक नहीं रहा, जिस पर बराबर चढ़ाया जाकर शेखर का जीवन तेज़ होता गया।' शेखर की दृष्टि में वह उसके विकास की निमित्त से अधिक और कुछ नहीं रहा।

'शेखर : एक जीवनी' की तरह 'नदी के द्वीप' भी व्यक्ति चरित्र का उपन्यास है, पर इसका विषय व्यक्ति-चरित्र का क्रमिक विकास दिखाना नहीं, विकसित चरित्र को धीरे-धीरे उघाड़ना है। गौरा को छोड़ 'नदी के द्वीप' के सभी पात्र परिपक्वावस्था में ही उपन्यास में आते हैं। गौरा का चरित्र अवश्य उपन्यास में ही परिपक्वता को प्राप्त होता है, उसके विकास की विभिन्न अवस्थाओं के उद्घाटन की ओर ही उपन्यासकार का ध्यान रहा है।

'नदी के द्वीप' का नायक है भुवन। भुवन वैसे तो फिज़िक्स में डाक्टर है। पर उपन्यास का विषय वैज्ञानिक भुवन नहीं, व्यक्ति भुवन की भीतरी घुमड़न का प्रकाशन है जो उसके विचारों और कार्यों को निर्दिष्ट करती है। रेखा और गौरा अलग-अलग उसकी दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों को उकसाती हैं : रेखा उसकी यौन प्रवृत्ति को उद्दीप्त करती है तो गौरा उसकी विवेक बुद्धि को, जो सामाजिक नैतिकता की आवाज़ है, जागृत करती है। सच तो यह है कि रेखा के माध्यम से वैज्ञानिक भुवन के भीतर का असली कामुक भुवन व्यक्त हो उठा है। वासना की नदी के प्रवाह में एक बार तो उसकी रिसर्च-वर्च सब कुछ बह गई थी। उसे डूबने से यदि कोई बचा सका तो वह गौरा का अस्तित्व था। भुवन की इन दो प्रवृत्तियों में ज़ोर का संघर्ष चलता है। जब रेखा उसकी जीवन-धारा को निर्दिष्ट कर रही होती है तो बीच-बीच में गौरा की याद आकर अंकुश का काम करती है। फिर रेखा के 'फुलफिलमेंट' के बाद जब वह गौरा की ओर प्रवृत्त होता है, तब बीच-बीच में रेखा का ध्यान उसे विचलित करके पूर्णतया समर्पित नहीं होने देता। भुवन के जीवन में निरंतर उसकी सेक्स भावना यानी रेखा की ही प्रबलता रही, पर अंततोगत्वा उसने गौरा को जो पूर्णतः स्वीकार कर लिया उसके पीछे सेक्स प्रवृत्ति नहीं थी।

शेखर और शशि की तरह भुवन और रेखा के भीतर भी गहरे में सेक्स और कान्शेयंस में भीषण संग्राम छिड़ा रहता है। अंतर केवल इतना है कि 'शेखर : एक जीवनी' के प्रधान पात्रों के अचेतन में पहले 'कान्श्यंस' की सेक्स पर विजय होती रहती है और बाद में सेक्स की जीत ध्वनित होती है। पर 'नदी के द्वीप' में पहले सेक्स जीतता रहता है और बाद में 'कान्श्यंस' नोकुछिया ताल के एकांत प्रदेश में भुवन के भीतर यह संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है। रेखा के समर्पण को वह स्वीकार नहीं कर पाता है। यहाँ उसके 'कान्शेन्स' की विजय होती है और समर्पण होता-होता बीच में रुक जात है। पर कश्मीर की ऊँचाइयों पर उसकी यौन प्रवृत्ति ज़ोर मार कर विजय पा गई। रेखा का हेमेंद्र-रूपी शाप टूट गया। उसने भुवन को पुरुष के रूप में पहचान लिया और 'फुलफिल्ड' हो गई। पर इसके फलस्वरूप जिस 'संर्जन वायलिनिस्ट' का सूत्रपात हुआ था वह इन दोनों की वासना के वायुयान को जीवन की यथार्थ भूमि पर ला पटकता है। 'सर्जन वायलिनिस्ट' के हित-चिंतन में भुवन का रेखा को आश्वासन देना कि 'रेखा जो हुआ है मुझे उसका दुःख नहीं है—यह जो आएगा—आएगा या आएगी वह तो मुहावरा है—वह मेरा है, मेरा वांछित—उससे मैं लजाऊँगा नहीं, वह तुम मुझे दोगी, भूलना मत, तुम्हें और तुम्हारी देन को मैं वरदान करके लेता हूँ' उसके भीतर घर कर रही अपराध-भावना को ही ध्वनित करता है। रेखा भुवन के अचेतन में बैठे इस चोर को ताड़ लेती है और उस पर तरस खाकर 'सर्जन वायलिनिस्ट' को समाप्त करा देती है।

'नदी के द्वीप' को पढ़ते हुए डी.एच. लॉरेंस की याद आ जाती है। लारेंस का विश्वास है कि स्त्री-पुरुष की उभयलैंगिकता (बाई सेक्स्युएलिटी) वैज्ञानिकों की कल्पना है, वे दोनों अलग-अलग

सेक्स है— स्त्री शत-प्रतिशत स्त्री और पुरुष शत-प्रतिशत पुरुष। उसकी धारणा है कि इसीलिए, स्त्री और पुरुष का यदि मेल हो सकता है तो मिथुन द्वारा ही। मिथुन द्वारा ही वे एक-दूसरे में प्रवेश करके एक-दूसरे को समझ सकते हैं और एक-दूसरे के स्वतंत्र तथा अन्योन्याश्रयी रूप को पहचान सकते हैं। इस प्रकार मिथुन लॉरेंस के उपन्यासों का अनिवार्य अंग बन जाता है। मिथुन को लॉरेंस पाप नहीं मानता, यदि दोनों में मिलन की तड़प और उसके साहस हों— फिर वह इच्छा चाहे क्षणिक ही क्यों न हो। लॉरेंस का कहना है कि जीवन के वासनापूर्ण गुप्त स्थलों पर ही हमारी संवेदनाएँ उद्बुद्ध होकर हमारे मन को निर्मल और तरोताज़ा करती हुई उमड़ पड़ती हैं। इस दृष्टि से रेखा के 'फुल्फिलमेंट' तथा 'नदी के द्वीप' और लॉरेंस के 'लेडी चेटर्लीज लवर' में आश्चर्यजनक समानता दीखती है। बाद में भुवन की अपराध-भावना 'नदी के द्वीप' को नया मोड़ दे देती है। अज्ञेय स्वयं भी अपने को लॉरेंस के निकट मानते हैं।

अज्ञेय के तीसरे और अंतिम उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' की विषय-वस्तु वही है जो 'शेखर : एक जीवनी' की, यानी मृत्यु से साक्षात्कार। अंतर केवल इतना है कि शेखर के सामने प्रश्न यह था कि उसके जीवन की सिद्धि क्या है अर्थात् यदि वह मर जाता है तो कुल मिलाकर उसके जीवन का अर्थ क्या हुआ। जब कि 'अपने अपने अजनबी' जीवन-मात्र के नक्शे में मृत्यु-मात्र के स्थान की व्याख्या में प्रवृत्त है। किस प्रकार कुछ के लिए मृत्यु स्वयं अपनी होती है और कुछ के लिए अजनबी। किस प्रकार मृत्यु से साक्षात्कार अपनों को अजनबी बना देता है और अजनबियों को अपना, इस प्रश्न को लेकर मृत्यु के प्रति पूर्व के स्वीकार भाव और पश्चिम के विरोधाभास की तुलना भी इस रचना में मिलती है। पर अंत तक पहुँचते-पहुँचते यह रचना लड़खड़ा जाती है।

बर्फ से दब जाने पर सेल्मा और योके दोनों का मृत्यु से साक्षात्कार होता है। सेल्मा की दृष्टि पूर्व की है और पश्चिम की दृष्टि को योके अपनाए हुए है। पर अंत तक पहुँचते-पहुँचते दोनों जीवन के प्रति निस्पृह हो उठती है। इन दोनों के दृष्टिकोण में जो मौलिक अंतर है उसे स्पष्ट करते हुए अज्ञेय कहते हैं, 'दोनों के मार्ग अलग-अलग हैं, या कह सकते हैं कि दोनों की यात्राएँ समानांतर हैं, सेल्मा में मृत्यु का सघन स्वीकार है। पर योके अंत तक अपने दोनों आग्रह बनाए रखती है। एक तो मृत्यु को न मानने का और दूसरे वरण की स्वतन्त्रता का। लेकिन अंत में वह वरती है मृत्यु को ही। और दूसरे, जब वह अच्छे आदमी को साक्षी बना कर मरना चाहती है तो एक तरह से मृत्यु को स्वीकार भी कर लेती है, क्योंकि सचाई में आस्था और साक्षी के माध्यम से प्रकारांतर से अमरत्व, इन दोनों के सहारे वह मृत्यु से ऊपर उठ जाती है।'

अज्ञेय स्वभाव से ही मितभाषी थे। वे बोलते कम थे और सन्नाटा अधिक सुनते थे। उनकी एक कविता भी है— 'पहले मै सन्नाटा बुनता हूं।' एक बार वे सन्नाटा बुन लें, मौन साध लें, तो उसके पार पाना लगभग असंभव ही था। जब बोलते भी थे तो बहुत ही धीमे स्वर में और कम से कम एक नपे-तुले शब्दों में। खुलते तो वे बहुत ही कम थे। पर जब खुलते तो अपने भीतर के क्षुब्ध पारावार में गहरे गोता लगा कर अमूल्य रत्न निकाल लाते। मुझे कई बार उनके सान्निध्य का सुअवसर प्राप्त हुआ और उनसे साहित्य चर्चाएँ भी हुईं।

उनके उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' के दो भाग प्रकाशित हुए हैं, पर वे दोनों मिलाकर भी नायक शेखर की पूरी जीवनी को नहीं समेट पाते। हिंदी-जगत वर्षों इस उपन्यास के तीसरे के भाग की प्रतीक्षा में रहा। पर उसे न आना था और न आया ही। एक बार मैंने अज्ञेय से पूछ ही लिया, 'शेखर : एक जीवनी' के तीसरे भाग के लिए अपने पाठकों को कब तक तरसाते रहेंगे?' इस प्रश्न से वे आर्द्र हो उठे और बोले, 'उनको क्या तरसाऊँगा। उनसे अधिक तो मैं तरसता हूं। लेकिन तरसने से कुछ आता-

जाता नहीं है। तीसरा भाग एक बार लिखा गया था। तभी छप गया होता तो छप गया होता। अब वह संशोधन माँगता जान पड़ता है और मैं भरसक कोई चीज अवस्था में छपने नहीं भेजता हूँ जबकि वह मुझे अधूरी जान पड़ रही हो। छप जाने के बाद उसके बारे में मेरी धारणा बदले या संशोधन आवश्यक जान पड़े तो दूसरी बात है, वह दूसरे संस्करण में हो सकता है या ऐसा हो सकता है कि दूसरा संस्करण होने ही न दिया जाए।'

एक बार मैंने उनसे पूछा : 'साहित्यिक कृति के माध्यम से आप जीवन और जगत के प्रति बन चुके अपने किसी दृष्टिकोण की प्रायः पुष्टि करते हैं या उसकी जाँच की ओर भी अग्रसर होते हैं?' मेरा प्रश्न सुनकर अज्ञेय चुप रहे। काफी देर तक इसी मौन-मुद्रा में बैठे रहे? मानो मुझे भूल, अपने भीतर की गहराइयों में गोता लगा रहे हों। फिर उनके होंठ फड़के और वे धीरे-धीरे कहने लगे, 'जीना ही जीवन के प्रति दृष्टिकोण की जाँच करना है? जब तक कि व्यक्ति जीवन के अनुभव के प्रति अपने को बिल्कुल ही बंद न कर ले। उतना बंद अपने-आप को नहीं किया है उतना बंद होना संभव भी नहीं है, अगर कोई बंद होना चाहे भी तो।

'जीवन के प्रति दृष्टिकोण जब एक ओर जीवनानुभव की पद्धतियों को प्रभावित भी करता है और दूसरी ओर स्वयं उस अनुभव का परिणाम भी है, तब स्वाभाविक है कि अनुभव प्राप्त करते हुए या उसकी ओर खुले रहते हुए दृष्टिकोण के निरंतर परिशोधन का प्रयत्न किया जाता रहे। पुष्टि और पड़ताल दोनों ही इस परिशोधन के अंग हैं। पूर्वधारणा का जो उज्ज्वल अंग अनुभव पर खरा उतरे उसे छोड़ देना, और जहाँ परिवर्तन की आवश्यकता हो वहाँ परिवर्तन करना यही शुद्ध दृष्टि है।

'साहित्यिक कृति सर्वदा तो नहीं किंतु बहुधा आत्मान्वेषण अथवा आत्माविष्कार का साधन भी होती है। रचना-प्रक्रिया में ही रचयिता स्वयं अपने को नए अथवा सही रूप में पहचानता है। इस प्रकार, कृति जितनी कृतिकार द्वारा रची जाती है उतनी स्वयं कृतिकार को रचती भी है। कोई भी रचयिता रचना करने से पूर्व और पश्चात वही का वही नहीं रहता। मेरा विश्वास है, सभी कृतिकार इस बात की पुष्टि करेंगे।'

अज्ञेय के उपन्यासों को, विशेषतः 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' को पढ़ते समय एक प्रश्न बार-बार कौंध जाता है कि उनमें नायक-नायिका की क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में, नर-नारी का कौन सा समीकरण निरूपित हुआ है। क्या वे एक-दूसरे के बराबर हैं या एक-दूसरे के निमित्त हैं, पूरक हैं। उनमें कई जगह यह ध्वनि निकलती लगती है कि पुरुष की उन्नति का नारी निमित्त मात्र है और उसे अधिक कुछ नहीं। इन दोनों उपन्यासों में साम्य खोजते हुए एक बार अवसर पाकर मैंने अज्ञेय से ही पूछ लिया, 'शशि वा रेखा के समर्पण की नींव पर शेखर अथवा भुवन जब अपने भविष्य का भव्य प्रासाद बनाने की सोचते हैं तो क्या शशि वा रेखा उनके लिए साधन या अधिक से अधिक प्रेरणा मात्र नहीं रह जातीं?'

उत्तर में अज्ञेय ने कहा, 'मेरी समझ में शेखर और भुवन के चरित्र अथवा नारी के संबंध में उनकी धारणा में अंतर भी है। शेखर यह मानता है कि नारी अपने प्रिय को आगे बढ़ाने का निमित्त बनती है। वह यह भी अनुभव करता है कि उसके जीवन में भी नारी का इस प्रकार का योग रहा है और उसके मन पर इस बात का बोझ भी है। उसको बनाने में कोई टूट जाए, इसमें जहाँ वह दानी के प्रति कृतज्ञ है वहाँ इसलिए कुंठित भी है कि क्या वह जितना दे सकता है उससे अधिक उसे मिल चुका है, अर्थात् वह चिरऋणी रह जाए। भुवन में यह भाव दूसरे ढंग का है, दूसरे कारण से है। उसका अहं भी शेखर जैसा प्रबल नहीं है।'

किसी का चिरऋणी रह जाना न शेखर को गवारा है, न उसके रचयिता अज्ञेय को और न उनके मूलप्रेरक व्यक्ति वात्स्यायन को ही, न उपन्यास में और न जीवन में। उनका आत्मभाव या अहंभाव इतना प्रबल है कि चिरऋणी रह जाने की संभावना मात्र से वे सिहर उठते है और संबंधित व्यक्ति से, वह चाहे कोई भी हो, मुक्ति पाने के लिए छटपटाने लगते है। वे नदी के द्वीप ही बने रहना चाहते हैं, व्यक्ति को समाज की, समष्टि की अखंड धारा में छोड़ देने को कतई तैयार नहीं। उन्हें इस बात का खतरा रहता है कि 'बहेंगे तो रेत हो जाएंगे/बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।' व्यक्ति की अद्वितीयता में अडिग आस्था रखने वाले और उसकी अस्मिता को सर्वोपरि मानने वाले अज्ञेय को यह स्थिति किसी भी हालत में स्वीकार्य नहीं।

(एक)

बिजली का उड़नखटोला

डॉ. गोपाल शर्मा

प्रकाश की रफ्तार से घुमा रहा है हमें
बिजली का विशाल उड़नखटोला
शायद हमारी ही घड़ी का काँटा
अरई चुभाकर
हम को तुराता जा रहा है।
मन में आकाश छू लेने का हर्ष
तन में धरती पर लटपटाकर
दम तोड़ देने की आशंका।
मौत से सूतभर फासले पर घबराते
हम लहराते चक्कर खा रहे हैं,
लोमहर्षक गुदगुदी से
चीखते कहकहे के चक्रावर्त
अपनी ही नाभि में खिंचते चले आ रहे हैं।
सड़कों और तारों में कैद शहर
बार-बार बेताल सा आकार बढ़ाता
हवा को घूंसे मारता
चिकनी गर्दभरी हाँफ के साथ घुटने मोड़ कर बैठ जाता है।
हमारा हर चक्कर
मदक से प्रेरित फैलते-सिकुड़ते
मजाकिया और डरावने साये दिखाकर
हंसी रुलाता है, रोनी हंसाता है।

इस उड़न खटोले की धुरी
मजबूत है कि नहीं, हम नहीं जानते।
जन्म का भाड़ा देकर
बैठा दिया था सदी ने इस पर।
न गति पर हमारा बस है
न हत्थे पर कोई स्विच,
नज़ारे को, थमकर पहचानने की
कोई गुंजाइश नहीं।
परिवेश की धज्जियाँ उड़ाती
'राक' धुना के बीच
किचकिचाता, थर्राता,
चिनगारियाँ छोड़ता घूमे जा रहा है
दनादन, दनादन।

अरे रोको ! कोई रोको रे !
मेरा सिर घूम रहा है, उबकाई आती है।
आवाजों के सैलाब में
मेरी पुकार, तड़पती मछली सी
उछल कर डूब जाती है।

लगता है झूले के मालिक और मिस्त्री
इस चलता छोड़कर
आकाश गंगा पर लुनाई में लगे हैं,
कौंधों के पूले बांध कर
सूर्य किरणों के गन्ने पेर रहे हैं।
अनामत की टांगों को पास खींच लाने
अपनी बाहों से घेर रहे हैं
उनकी उग्र जिज्ञासा,
सृष्टि की हर अंधेरी खंदक में
सिर डालने को उतावली है,
दिमाग में कम्प्यूटर और दिल में पिस्टन
भर देने को बावली है।
गति, गति, गति—
मनुष्य और काल का संबंध
रोमांचक सनसनी है।
दुनिया की हर वस्तु
उसके उपभोग के लिए बनी है
उसमें ईश्वर नामधारी संशय भी शामिल है।

उनकी जेब से दिया गुर
जो स्वीकार नहीं करता,
सूरज के चकों में चिपका
कीचड़ है— जाहिल है।

आज सहस्त्रपाद निमिषों की फौज
भावुक मृदुताओं को
क्वार्टज़ के बूटों से कुचलती जा रही है
रस को उफान,
रूप को अंगों का संघान बना रही है।
वे मानते हैं— असूर्यपश्या नाम कन्याओं ने
ऊब में फेके थे अपनी घट और पट,
संतों की अनुभूति के आलोक-प्रवाह में
मानव मेधावी हिंस्त्र है,
आध्यात्मिक फर्क करता है
झटके और लहाल के लिए उठी हुई बाँह में,

नहीं, नहीं, मुझे बाहर आने दो
इस तीव्र भँवर से।
मेरी चेतना, काल से हाथ छुड़ाकर
बीती सुबहों की ओर लौट सकती है।
निकालने दो मुझे
अतीत के संग्रहालय से
नांद और सूराखदार प्याला,
जिसमें रस भर कर, मेरे पितरों ने
अपने समय के वेग को
अपने हाथों से सँभाला—
दिन की भागदौड़ को घिमाने
खड़ाऊँ पहिनाए
यामा के अभिसारी पगों में
महावर रचाया।
गुफाओं की बस्तियों को
काशी और वैशाली बनाया।
भौतिक वैभव की बाढ़ के नीचे
एक मंद्र चपल सरस्वती बहती आई है
इसकी सामर्थ्य
सूर्य के अश्वों की शक्ति से नहीं
उसकी पैंजन के शिंजन से

आँकी जाती है।
यह मानव उल्लास और विश्वास की
सहस्त्रों भंगिमाओं की झाँकी है
इसने इतिहास के श्मशानों की राख
अपने वक्ष से सींची है,
उसमें गीत-नृत्य लहरों से झूमती
शस्यश्यामल छवि खींची है।
निषेध और स्वीकृति से
संस्कृति बटकर दिक्-काल को मथा है,
अमृत घट पाया है,
श्वेत और श्याम का लय करते
हर संगम को तीरथ बनाया है,

प्रकाश और गति के इंद्रजाल ने
मुझे घोर चक्कर में डाला है।
लगता है कण-कण में सौर मंडल है।
पुष्प किसी तरु के परिरम्भ में प्रफुल्लित उजाला है।
मैं विज्ञानान्ध हो रहा हूँ
यथार्थ में सत्य की पहचान खो रहा हूँ।

ओ, विस्मयी विवशताओं के शासक,
मुझे उतार दो इस चक्र-झूले से
आज लग रहे हैं मेरे अपने मूल्य
भूले-भूले से।
संसार को तुमने,
घंटी और कुकुर-बुभुक्षा न्याय से
पहचाना है
मनुष्य के संकल्प को,
स्थिति और मति के द्वंद्व का—
समाहार माना है।

स्थूलों की बारात,
मेरी नेहराकुल भाषा को
पथरीले मार्ग पर धकेले जा रही है
बंकिम लावण्यों को
युद्ध ध्वस्त मन के
खंडित-बिंबों संग
सकेले जा रही है

तुम क्षण को शराब के ग्लोब की तरह
एक ही घूँट में उतारने झपटते हो।
समय के रथ से बंधे, पीछे घिसटते हुए
कण-कण को चूमते-लिपटते हो।
वह निर्मम ताज जैसे सुदृढ़ सौंदर्य में भी
बुढ़ापा आँकता आता है।
ब्रह्माण्ड के ग्रह-नक्षत्रों की उम्र
प्रतिपल नापता जाता है।
किंतु मैं, मनु की जन्मांतर संगति,
अपने नित-नवीन अस्तित्व का रखवाला हूँ
राग में फूलों का महकता गजरा
विराग में कठ-मनकों की माला हूँ।
सरिता की धारा में पुलिन-दीप बिंबों सा
गतिमय विश्राम हूँ।
भुवन के त्रिविध विस्तार में
समाज की नैतिक गुणवत्ता का
स्पंदित आयाम हूँ।
मेरा सूर्य के बुझ जाने से
कोई सरोकार नहीं
करोड़ों सूर्यों में से
एक अपना लूंगा और कहीं।
तुम्हारे चमत्कारी आविष्कार
अब हिंसा के शृंगार बनते जाते हैं
नील सरोवर पर उड़ाए गए हंस
भूख नाज और गिद्ध जनते जाते हैं
आओ।
मुझे मुक्त करो
अपनी भीम प्रतिमा की प्रदक्षिणाओं से।
उपभोग की तृष्णा में
पीड़ा सुख व्यसनी इन यांत्रिक द्रुतताओं से।

(दो)

मौसम की दस्तक

प्रताप सहगल

आषाढ़स्य प्रथम दिवसे या
या अंतिम
नहीं जानता महीपाल
उसकी रगें सूंघती थीं
मौसम की खुशबू
और दस्तक देती थीं
जिस्म के पोर-पोर पर
मैं हूं मैं हूं

आसमान में तैर रहे थे
मस्त काले हाथियों के झुण्ड
सूंड उठाकर
वंदना कर रहे थे आकाश की
और पानी के फूल
अर्पित कर रहे थे ज़मीन पर
स्याह काले बादलों की
सुरमई गंध की मोटी चादर ने
ढक लिया
आकाश और ज़मीन के
बीच का खालीपन
पानी के फूल
चाबुक की तरह बरसने लगे
देखते ही देखते
ज़मीन का रंग

तैरने लगा ज़मीन के ऊपर
महीपाल ने आँख उठा देखा
छत सही सलामत थी

खिड़की की काली सलाखों के खालीपन को
भेदती उसकी नज़रें
देख रही थीं जल-प्लावन
अपनी कोठरी से बाहर
उसे ध्यान आया
कामायनी के मनु का
ऐसा ही जल-प्लावन देखा था उसने
और डूब गया था
देवों के सुखदायी अतीत को
फिर से खड़ा करने की चिंता में.

मनु-पुत्र होने का एहसास जगा आया था
उसके अंतर के किसी गह्वर में
कोई नदी, कोई समुद्र नहीं
सामने के नाले में
तेज़ी से गिर रहा था पानी
जैसे मोटर का पुराना इंजन
स्टार्ट कर के खड़ा कर गया हो कोई

महीपाल की कोठरी के ठीक सामने
एक खोखा था
पानी की मार का शिकार
महीपाल की आँखें
खोखे के दरवाज़े पर लटकते पर्दे पर पड़ीं.
पर्दा हटा
और श्यामवर्णी नायिका
अपने गदराये यौवन के
साथ मौजूद थी
दरवाजे की चौखट पर
कहन को चौखट थी
पर पानी उसे खोखे के आर-पार
बह रहा था
छोटी नदी की शक्ल में.

महीपाल की नज़रें
श्यामवर्णा से टकराईं
इस हल्की सी टकराहट से
उसे अपने करीब
एक आहट सुनाई दी
इस आहट को
उसने निमंत्रण मान लिया,
और उसके कदम
कोठरी से निकल कर
खोखे के अंदर जा कर रुके
जानता था नाम उसका
भोली थी वह
देखता आया था
उसे एक अरसे से
पिता उसका नीम हकीम था
और दोस्ती थी उसकी उससे
चंद्रकांता और भूतनाथ
उनकी चर्चा के केंद्र में रहते थे

भोली अकेली थी घर में
घर में थी बहती हुई नदी
भोली को डर था
कहीं जलधार में
खोखे के साथ-साथ
वह भी बह न जाए
हाथों से उलीच रही थी पानी
पानी ने ठान ली थी हठ
और न महीपाल ही था
कोई अगस्त्य ऋषि
कि पी जाता यह छोटी सी नदी
वह खड़ा-खड़ा भोली को देखता रहा
भोली उसे
जलधार हल्की हो रही थी
बढ़ रही थी उन दोनों के अंदर एक बेचैनी
कंपाकंपाने लगे
उनके होंठ
महीपाल ने आखिर पूछा—'कहाँ हैं सब लोग'
'चिड़ियाघर' कहकर भोली

फैले हुए कबाड़ से
कोई मोती खोजने लगी
महीपाल के दिमाग में
एक कौंध आयी
मिली-जुली कौंध
वर्षा पहले दूर कहीं खोई
पुष्पा के बदन की कौंध

कौंध में पुष्पा के यौवन की गंध थी
उस गंध के ही साथ थी
एक कसक
महीपाल की पुष्पा
खो गयी थी
किन्हीं अंधेरी गुफाओं में

गुफाएँ
जिनके रास्ते भटकीले
और गंतव्य कहीं नहीं होता
गुफाएँ
जो लील लेती है
आदमी का समूचा अस्तित्व
गुफाएँ
जिनकी दीवारों से आदमी टकराता है
और लहूलुहान होकर
उन्हीं में
कहीं खप जाता है
गुफाएँ
जिनका सिर्फ एक रास्ता होता है
जो अंदर तो जाने देता है
पर बाहर आने की
इजाज़त वहां नहीं मिलती
इन्हीं अंधेरी गुफाओं में
खो गयी थी पुष्पा
अपने पिता की मौत के बाद
पेट पालने की मजबूरी थी
या जस-तस बने रहने की लालसा
था एक रास्ता
नहीं जानता महीपाल

जानता था इतना ही
कि पुष्पा
निकल गयी थी दूर
अंधी गुफाओं में
और वह चुपचाप ताकता रहा
कुछ नहीं कर सका।

आज उसके सामने मोली थी
पुष्पा की तौक उसने
अपने गले से उतार कर
अलगनी पर टाँग दी
और मोली के
ठंडे हाथों को थाम लिया

चार हाथों की नसों में
गर्म रेखाएँ तैरने लगीं
रेखाएँ जाल में बदलने लगीं
जाल जादू दिखाने लगा
महीपाल और मोली के बीच
संकोच और शर्म की दीवार
भरभर कर ढह गयी
दो समानांतर रेखाएँ
तरह-तरह के आकार लेने लगीं
आकार
निश्चित नहीं थे पहले से
दो ताकतें
उन्हें दे रही थी शक्ल
शक्ल के साथ कोई अर्थ
महीपाल की बाहों में मोली थी
और आँखों में पुष्पा
पुष्पा ने उसे
एहसास दिया था
पूर्ण पुरुष होने का
और मोली ने
उस एहसास को
गहरा दिया। कुछ पलों के लिए
महीपाल अपने इस अनुभव लोक से
खारिज नहीं कर सका पुष्पा को

पुष्पा को अपनी दुनियाँ से ढालने
और चाहे अनचाहे
उसे न टाल पाने के द्वंद्व के बीच
फँसा महीपाल
श्यामवर्णा पहाडों के साथ
टकरा रहा था
खोखे के कोने से
बाहर नजर पड़ी महीपाल की
फटे दूध की तरह
बादल बड़े पतीले में तैर रहे थे
और नदी का ज्वार उतर रहा था
पानी अभी भी ठहरा था
खोखे के अंदर
दोनों के अंजुरी भर-भर
उसे उलीच दिया.

फटे बादल सा
महीपाल अपने अंदर एक भारी खालीपन लेकर
लौट आया
अपनी गुफा में
करने लगा व्याख्या
प्रेम की
भोली देख रही थी
खोखे की खोखली दहलीज के बीचों-बीच
खड़ी भोली देख रही थी
महीपाल की पीठ
महीपाल
महसूस कर रहा था
खुद को खाली
खालीपन ने धीरे-धीरे
महीपाल के
मैं हूं मैं हूं
को जकड लिया
वह खालीपन को
प्रेम के अर्थ देने लगा
प्रेम तो देना है
लेना नहीं,
नहीं/बिना हासिल होने की आशा के

कौन करता है प्रेम
छल करते हैं सब खुद से
सबसे पहले प्रेम आदमी करता है खुद को
खुद के अस्तित्व को
और फिर अपने होने के साथ ही
जोड़ता-घटाता है दूसरों का अस्तित्व
उसे याद आता रहा
भर्तृहरि का नीतिशतक
यक्ष का प्रलाप
दुष्यंत का पश्चाताप
मनु का आध्यात्मिक विकास
राम का सीता-वियोग में विलाप
और कृष्ण का विलास
उसे याद आता रहा रत्नसेन
कौंध गया उसकी शिराओं में ओथेलो
और रोमियो
फरहाद, मजनूं और महीवाल
एक बड़ी भीड़ के बीच
वह घिर गया
और खोजने लगा
खुद को सबके केंद्र में रखकर
समझने लगा अपने होने का अर्थ
प्रेम उसे
एक भ्रम लगा
मथने लगा उसकी शिराओं के बीच बहता खून
खून के साथ बहते संस्कार
परंपरा
समुद्र मंथन होने लगा
उसके अंदर

एक कोने से उछला एक सिक्का
खनखनाता हुआ
प्रेम एक शब्द है
शब्द के पीछे भ्रम
भ्रम पहले खड़ा करता है आदमी
और फिर उसमें करने लगता है विश्वास
पहली नज़र में होता है प्रेम
उसे सबसे बड़ा छल लगता है

वह नहीं मानता कि प्रेम हो जाता है—
किया जाता है प्रेम
वैसे ही
जैसे पकती है रोटी
प्रेम करने के केंद्र में
आदमी होता है खुद ही
उसे भर्तृहरि के अनुभव बासी लगने लगे
मजनूं, फरहाद और महीवाल के किस्से
गढ़े हुए लगे
कोई किसी के लिए नहीं मरता
किसी के प्रेम में पागल होकर
मरने का तो प्रश्न ही निरर्थक है
जए भी मरा
सिर्फ इसलिए कि उसे मरना पड़ा
दुष्यंत का पश्चाताप हो
या मनु का विलाप
सभी के केंद्र में
कोई और नहीं
वे खुद थे
यही था महीपाल भी
प्रेम उसके लिए सुख भोगने का एक औजार है
प्रेम उसके लिए
सीढ़ियाँ बनाने
या सुरंग लगाने का
एक हथियार है
प्रेम शाश्वत होता है
प्रेम एक मूल्य है
या जन्म-जन्मांतर तक होता है प्रेम
सब थोथा लगा उसे
प्रेम और कुछ नहीं
उसके रगों के बीच बहती गरम धारा है
प्रेम खूबसूरत सी इमारत खड़ी करने के
काम आने वाला ईंट-गारा है
वह प्रेम को नया आयाम देना चाहता है
प्रेम के नाम पर
शोषण नहीं
गरमाते संबंधों के बीच फैले आकाश को उठाता है।

गोस्वामी तुलसीदास के काव्य में प्रखर युगबोध

प्रो. विजयेंद्र स्नातक

भारत के जनजीवन में दो महापुरुषों के नाम अनेक संदर्भो में अमित श्रद्धा और पूज्य बुद्धि के साथ स्मरण किये जाते हैं। राम और कृष्ण को इस देश की धार्मिक जनता विष्णु के अवतार रूप में और बुद्धिवादी जनता लोकनायक, लोकरक्षक और धर्म सस्थापक के रूप में स्वीकार करती है। ये दोनों महामानव अपनी आदर्श मर्यादाओं और उदात्त मान्यताओं के कारण इस देश की जातीय अस्मिता के संवाहक बन गये हैं। वाल्मीकि और व्यास ने इन दोनों विभूतियों का चरित्र रामायण और महाभारत में इस शैली से चित्रत किया है कि वह समाज के आदर्शनिष्ठ मूल्यों को सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक बनाने में सफल रहा है।

वाल्मीकि रामायण का राम केवल विष्णु भगवान का अवतार न होकर लोकजीवन की भूमिका में अवस्थित लोकमर्यादा का विधान करने वाला है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी राम को रूप, गुण, शील समन्वित, लोकसंग्रही व्यक्तित्व से परिपूर्ण बनाकर सर्वव्यापक (सिया राममय सब जग जानी) दिव्यत्व प्रदान किया है। तुलसीदास ने राम के विभुत्व को खंडित नहीं किया वरन उनके ऐश्वर्य और वर्चस्व को द्विगुणित कर भक्तजन के लिए अभिनव रूप में प्रस्तुत किया है। राम की यशोगाथा तो वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, आनन्द रामायण, भावार्थ रामायण, भास्कर रामायण, बौद्ध रामायण (जातक-त्रिपिटक), जैन रामायण, पउमचरिउ, पदमचरित, स्वयम रामायण, कंब रामायण, कृत्तिवास रामायण, रंगनाथ रामायण आदि सैकड़ों ग्रंथों में विभिन्न रूपों में उपलब्ध है। काव्य, नाटक और आख्यानों में भी रामकथा का विविध शैलियों में पल्लवन हुआ है। भारत की सभी भाषाओं में राम को केंद्र में रखकर नाना प्रकार की रचनाएँ समय-समय पर लिखी जाती रही हैं। आज शताधिक ग्रंथों में रामायण और रामकथा को फैला हुआ देखा जा सकता है। किंतु लोकप्रियता के निकष पर गोस्वामी तुलसीदास रचित रामचरित मानस की तुलना किसी अन्य रामायण से नहीं की जा सकती। जन साधारण की भाषा में लिखित रामचरित मानस ने उत्तरभारत की सीमाओं को पार कर भारत और विदेशों में जो लोकप्रियता प्राप्त की है उसे देखकर चीन और रूस के साहित्यकार भी चकित हैं।

गोस्वामी तुलसीदास की रामकथा यों तो प्राचीन रामायणों के आड़ में ही लिखी गई है किंतु

इसकी शाखा-प्रशाखाओं का ततुजाल गोस्वामी की अपनी प्रतिमा से हुआ है। भारत से दूर थाईलैंड, बर्मा, जावा, सुमात्रा, इंडोनेशिया, सूरीनाम, मॉरीशस, फीजी आदि अनेक देशों में रामकथा जिस रूप में जीवित है उसका श्रेय रामचरित मानस को सबसे अधिक है। राम का चरित आज किसी एक जाति, धर्म या देश की सीमाओं में आबद्ध न होकर धर्मनिरपेक्ष महामानव के रूप में स्वीकार किया जाता है। रामचरित को उपजीव्य बनाकर अनेक देशों में जातीय पर्व-उत्सव आयोजित होते हैं। भारत में दशहरे के समय रामलीला का जो व्यापक समारोह उत्तर भारत में होता है लगभग वैसा ही महोत्सव उपर्युक्त विदेशों में भी मनाया जाता है। रूस जैसे समाजवादी देश में भी रामचंद्र को मानवता का आदर्श नायक सिद्ध करने का सफल प्रयास प्रसिद्ध रूसी लेखक वारान्निकोव ने किया है। रामचरित मानस की रूसी भाषा के अनुवाद की भूमिका में उन्होंने रामचंद्र को सार्वभौम नायक की संज्ञा प्रदान की है। रामकथा की व्यापक स्तर पर स्वीकृति इस बात का प्रमाण है कि इतिहास, पुराण और मिथक के रूप में प्रचलित रामकथा विश्व की सर्वोत्कृष्ट उदात्त एवं अनुकरणीय गाथा है।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस का प्रणयन कर राम के चरित को युगबोध से संपृक्त कर ऐसा लोकधर्मी बना दिया है कि आज चार सौ वर्ष से अधिक हो जाने पर भी उसकी महत्ता और प्रासंगिकता में कोई अंतर नहीं आया है. अपने युग का जितना प्रत्यक्ष और प्रखर बोध रामचरित मानस में है वैसा तत्कालीन किसी अन्य कृति में लक्षित नहीं होता। तुलसीदास ने यह अनुभव कर लिया था कि निराश कुंठित और भग्नमनोरथ जाति को जीवन और जागृति का संदेश देने के लिए प्रवृत्ति परायण बनाना नितांत आवश्यक है। मानस की रामकथा अपने युग को वाणी देने वाली नव्य चेतना के संस्पर्श से लिखी मोहक कहानी है। उस पुरातन कथा में केवल कल्पित अतीत ही नहीं वरन युग के वर्तमान और अनागत भविष्य का संदेश निहित है। इसीलिए वह कालजयी भूमिका का निर्वाह करने में समर्थ है। मानस के पात्र जिस संघर्ष से गुजरे हैं उसे झेल लेने की शक्ति उन्हें किसी बाह्य स्रोत से नहीं वरन आभ्यंतर ऊर्जा से मिली है। सत्य, संयम, अभय और विवेक उनकी प्रेरणा के स्रोत रहे हैं।

रामचरित मानस के प्रथम सोपान में कवि ने ईश्वरवन्दना और गुरुवन्दना के बाद सज्जन वन्दना की है। संतो के सत्संग को तुलसी ने विवेक का मूल माना है :—

बिनु सत्संग विवेक न होई, रामकृपा बिनु सुलभ न सोई।
सठ सुधरहिं सतसंगति पाई, पारस परस कुधातु सुहाई।।

संत और सज्जन की स्तुति के बाद दूरदर्शी कवि ने खलों की भी व्याजस्तुति की है। अभिधेयार्थ से खलों का स्वभाव प्रत्यक्ष होता है और व्यंग्यार्थ से उस स्वभाव में संश्लिष्ट दुष्टता भी स्पष्ट होती है। तुलसी ने अपने युग में दुष्टों को देखा होगा, उनका कुटिल स्वभाव परखा होगा तभी बड़े सहज भाव से उनके विषय में जो वर्णन किया है वह वर्तमान में भी प्रासंगिक है :

बहुरि बंदि खलगन सति भाएँ। जे विनु काज दाहिने बाएं।।
परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष विषाद बसेरे।।

संत और असंत का स्वभाव की विश्लेषण करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है कि संत तो उस सुमन के समान होते हैं जो अंजलि में धारण करने पर दोनों हाथों को समान रूप से सुवासित करता है किंतु असंत तो अकारण कष्ट देने वाला होता है। संत का वियोग प्राणहरण का दुख देता है और असंत तो मिलते ही दारुण दुख का कारण बनता है:—

बंदो संत असज्जन चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु वरना।।
बिछुरत एक प्रान हरि लेई। मिलत एक दारुन दुख देई।।

इसी प्रसंग में कवि ने अपनी काव्य चर्चा करते हुए बड़े विनयभाव से स्वीकार किया है कि मेरा काव्य उच्चकोटि का नहीं है। मैं कवि नहीं हूं, कथा कहने में प्रवीण भी नहीं हूं, समस्त कला और विधाओं से हीन हूं लेकिन अपनी रचना किसे अच्छी नहीं लगती किंतु जो दूसरों की रचना सुनकर प्रसन्न होते हैं, ऐसे श्रेष्ठ पुरुष इस जगत में बहुत नहीं है। लगता है कि तुलसी ने अपनी जन-भाषा विषयक कृति से असंतुष्ट लोगों को ध्यान में रखकर ही यह लिखा है। आज भी कवि समाज की यही स्थिति ।

निज कवित्त केहि लागि न नीका। सरस होइ अथवा अति फीका।।
जे पर भनिति सुनसि हरषाहीं। ते वर पुरुष बहुत जग नाँही।।

कवि न होउँ नहिं चतुर प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।।
भाषा भनिति भोरि मति मोरी। हँसिवे जोग हँसे नहिं खोरी।।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि तुलसी ने अपने युग की मानसिकता का गहराई के साथ अध्ययन किया था और उन तथ्यों को उजागर करने में कोई कसर बाकी नहीं रखी थी जो युगधर्म और युगबोध को सामने लाते हैं।

सप्तम सोपान में गोस्वामी जी ने पुन: असंतों के स्वभाव का विस्तार से वर्णन किया है। इस वर्णन को पढ़ते ही प्रतीत होता है कि तुलसीदास के समकालीन समाज में भी नीचता और दुष्टता बहुत बढ़ गई थी जिस पर गोस्वामी जी ने बार-बार खुलकर प्रहार किया है। द्वेष और क्रोध से भरे रहते हैं। उनके स्वभाव की नीचता के कारण उनसे विलग रहना ही श्रेयस्कर है। खल व्यक्ति के हृदय में सदा ताप रहता है, वह दूसरे की सम्पत्ति की उन्नति को देखकर जलता है। यदि कहीं परनिंदा सुनता है तो उसे परम प्रसन्नता का अनुभव होता है, उसका अकारण दूसरों से बैर रहता है, हित-अहित का उसे बोध ही नहीं होता। उसका समस्त व्यवहार झूठ पर निर्भर करता है, झूठ ही उसका भोजन और झूठ ही उसका चबेना है। ऊपर से तो मोर के समान मधुर वाणी बोलता है किंतु हृदय में साँप के समान कठोर बनकर डसता है। लोभ ही उसका ओढ़ना-बिछौना है और परायण होकर यमपुरी का भी त्रास नहीं मानता। किसी अन्य व्यक्ति की प्रशंसा सुनने पर उन्हें जूड़ी आ जाती है। यदि किसी पर विपत्ति आती है तो ऐसे प्रसन्न होते है मानों वे जग के नृपति हों। स्वार्थ में लीन रहकर ऐसे नीच व्यक्ति परिवार का भी विरोध करते हैं। स्वभाव से कामी, क्रोधी, लोभी और लंपट होते हैं। माता-पिता, विप्र, गुरु किसी को आदर नहीं देते। स्वयं को ही सब कुछ मानते हैं। ऐसे नीच व्यक्ति सतयुग, त्रेता और द्वापर में थे किंतु अब कलयुग में इनकी संख्या बहुत हो गई है।

खलन्ह हृदय अतिताप विसेषी। जरहिं सदा परी संपत्ति देखी।।
जहँ कहुँ निंदा सुनहि पराई। हरषहिं मनहु परी निधि पाई।।
झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना।।
बोलहि मधुर वचन जिमि मोरा। खाइ महा अहि हृदय कठोरा।।
लोभइ ओढ़न लोभइ डासा। सिस्नोदर पर जमपुर त्रासन।।
काहू की जो सुनहि बड़ाई। स्वास लेहि जनु जूड़ी आई।।
स्वारथरत परिवार विरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी।।
मातु पिता गुर विप्र न मानहि। आपु गये अरु घालहि आनहि।।

असंतों के स्वभाव वर्णन के बाद अपने युग के स्वरूप को कलियुग के संदर्भ में तुलसीदास ने भोगे हुए यथार्थ की भाँति चित्रित किया है। कलियुग का यह वर्णन काल्पनिक न होकर प्रत्यक्ष क्रियाकलाप का

ही वर्णन है। कलियुग का दृश्य कदाचार और भ्रष्टाचार में दिखाई पड़ता है। दूसरे शब्दों में कहें तो आज जो देखा जा रहा है, घटित हो रहा है वही कलियुग है। यहाँ तुलसीदास त्रिकाल-दृष्टा के रूप में समय का अतिक्रमण कर जाते हैं।

कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भये सदग्रंथ।
दंभहि निज मति कल्पिकरि प्रगट किए बहुपंथ।।

वरन धर्म नहि आश्रमचारी। श्रुति विरोध रत सब नरनारी।।
द्विज श्रुति वेचक भूप प्रजासना। कोउ नाहि मान निगम अनुसासन।।
मारग सोइ जाकहूँ जोइ भावा। पंडित सोई जो गाल बजावा।।
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहँ संत कहै सब कोई।।
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी।।
जो कह झूठ मसखरी जाना। कलियुग सोई गुनवंत बखाना।।
जाके नख अरु जटा विसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला।।
नारि विवस नर सकल गोसाईं। नाचहि नट मर्कट की नाईं।।
नारि मुई गृह संपत्ति नासी। मूड़ मुड़ाइ भये संसासी।।
विप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ वृषली स्वामी।।
सब नर कल्पित करहि अचारा। जाइ न वरनि अनीति अपारा।

कलियुग का यह वर्णन इतना प्रखर युगबोध प्रस्तुत करता है कि इसे पढ़कर आज से चार सौ वर्ष पूर्व का ही नहीं वरन् आज बीसवीं शताब्दी का चित्र भी अपने पूर्ण भ्रष्ट आचरण के साथ मूर्तिपन्न हो उठता है। यह वर्णन कवि-कल्पना प्रसूत न होकर अपनी भोगी हुई विविध दशाओं से उत्पन्न भोगे हुए यथार्थ का स्थूल मांसल वर्णन है। ऐसा यथार्थ वर्णन अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आता।

गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी दूसरी रचना कवितावली में भी अपने युग को सांगोपांग उतारा है। पहले अपनी दीन-हीन दशा का वर्णन किया है और समाज की अर्थव्यवस्था पर करारी चोट की है तदनंतर तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति को स्पष्ट करते हुए गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी आदि पर बड़े चुटीले प्रहार किये हैं। कवितावली का यह वर्णन इतना सजीव और सटीक है कि उसकी ध्वनि और प्रतिध्वनि से पाठक के समक्ष संपूर्ण युग अपनी छटपटाती मर्मव्यथा को प्रस्तुत कर देता है। यहाँ केवल दो कवित्व उधृत कर हम समकालीनता का संदर्भ और यथार्थपरकता का दृश्य प्रस्तुत करना चाहेंगे। तुलसीदास ने पूरे युग की व्यथा को इन दो कवित्तों में समेट लिया है। पेट की आग कितनी प्रचंड होती है और जीविकाहीन होकर जीना कितना दारुण एवं दयनीय होता है यह इन कवित्तों में मूर्तिमन्त हो गया है :

किसनी, किसान कुल, वनिक, भिखारी, भाँट
चाकर, चपल, नट, चोर, चार, चेटकी।
पेट को पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि,
अटत गहन वन, अहन अखेट की।
ऊँचे नीचे करम, धरम, अधरम करि
पेट ही को पचत बेंचत बेटा बेटकी।
तुलसी बुझाइ एक राम घनश्याम ही तें।
आगि वड़िवागि ते वड़ी है आगि पेट की।।

दूसरा मनहरण कवित्त सामयिक यथार्थ के चित्रांकन का सुंदर निदर्शन है। चार सौ वर्ष का लंबा व्यतीत हो गया किंतु आज भी आर्थिक विपन्नता की वही दयनीय स्थिति है। किसान पानी के अभाव से सूखाग्रस्त है, कृषिकर्म की सुविधा नहीं है, भिक्षुक को उदरपूर्ति के लिए भिक्षा नहीं मिलती, व्यापारी का वाणिज्य व्यापार चौपट है, नौकरी पेशा व्यक्ति बेरोजगारी से पीड़ित है। कहने को तो आज रोजगार के दफ्तर है किंतु बेरोजगार लोग मारे मारे घूम रहे हैं उन्हें कहीं नौकरी नहीं मिलती। ऐसी भीषण स्थिति में भगवान के सिवा और कौन असहायों का सहायक हो सकता है। तुलसी ने इसी दारुण दया का चित्र अंकित किया है :

खेती न किसान को, भिखारी का न भीख, वलि
बनिक को वनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोचवल
कहैं एक एकन सों कहाँ जाइ का करी।
वेद हू पुरान कही, लोक हू विलोकियत
सांकरे समै पै राम रावरे कृपा करो।
दारिद दसानन दवाइ-दुनी दीन बंधु।
दुरित दहन देखि तुलसी हहा करी।

सामान्य जन की दुर्दशा का ऐसा सटीक-यथार्थ चित्रण भक्तिकालीन हिंदी कविता में तो दुर्लभ है ही, परवर्ती हिंदी काव्य में भी ऐसा मार्मिक यथार्थबोध शायद ही कहीं मिले।

गोस्वामी तुलसीदास के रामचरित मानस में ऐसे अनेक संदर्भ है जो आधुनिक विचारधारा के साथ एक सीमा तक मेल रखते हैं। एक दो ऐसे भी कथाप्रसंग हैं जिनका प्रभाव असहयोग आंदोलन के समय महात्मा गांधी ने ग्रहण किया था। ऐसा कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास का परमधर्म 'परहित सरस धर्म नहिं भाई' था। परहित में आत्मोत्सर्ग और आत्मभविसर्जन का भाव स्वत: निहित है अत: परहित की भावना को तुलसीदास ने यदि सर्वोच्च स्थान दिया तो वह विमल विवेक का ही परिणाम है। आधुनिक युग में स्वार्थ और संघर्ष की जो तेज दौड़ हो रही है उसे रोकने के लिए परहित को यदि धर्म बना लिया जाय तो शांति प्रेम और समन्‍ का वातावरण बन सकता है।

रामचरित मानस का एक सुप्रसिद्ध प्रकरण है जो मानवीय गुणों के उत्कर्ष और शक्ति पर प्रभाव डालता है। लंका के रणक्षेत्र में महावीर बलवान रावण चार घोड़ों के विशाल रथ में बैठकर युद्ध करने आया है। रावण के इस अजेय रथ को देखकर विभीषण सहम उठता है, सोचता है कि राम के पास न तो चार घोड़ों का रथ है और न शरीर रक्षा के लिए कवच, तन-पद त्राण विहीन राम की स्थिति साधनहीन अकिंचन की है। शस्त्र-सम्पन्न हीन राम, महावीर रावण को किस प्रकार जीत सकेंगे, यह संशय विभीषण को उद्वेलित कर देता है।

'नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना। केहि विधि जितहि वीर बलवाना।।'

राम के समक्ष विभीषण का संशयजनित भय जिस रूप में आया वह राम को विचलित करने वाला ही हो सकता था। विभीषण का यह संशय युग-संशय के रूप में राम के सामने खड़ा था किंतु राम न तो विचलित हुए और न हतप्रभ ही। बड़े शांतभाव से उन्होंने विभीषण को जो उत्तर दिया वह उत्तर आधुनिक युग संदर्भ में ब्रिटिश शासन के विरोध में सत्य और अहिंसा का अस्त्र लेकर संघर्ष करने वाले भौतिक साधनहीन व्यक्ति मोहनदास कर्मचंद गांधी का ही उत्तर था राम ने कहा—

सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहि जय होइ सो सस्यंन्दन आना।।
सौरज, धीरज तेहि रथ चाका। सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका।।

बल विवेक दम परहित घोरे। क्षमा कृपा समता रजु जोरे।।
ईस भजन सारथी सुजाना। बिरति धर्म संतोष कृपाना।।
दान परसु बधि सक्ति प्रचंडा। बरविज्ञान कठिन कोदंडा।।
कवच अभेद बिप्रगुरु पूजा। एहिसम बिजय उपाय न दूजा।।
सखा धर्ममय अस रथ जाके। जीत न कहँन कतहुँ रिपु ताके।।

राम ने ऊपर की पंक्तियों में जिस धर्म चक्र को रथ-रूप में वर्णित किया है वह अपने युग-संदर्भ से आधुनिक युग-संदर्भ तक अपरिच्छिन्न रूप से व्याप्त है। मुगल साम्राज्य के दुर्द्धर्ष प्रभाव को निरस्त करने के लिए तुलसी के पास शौर्य, धैर्य, शील, विवेक, संयम, परोपकार, क्षमा, कृपा, ईश्वरभक्ति, वैराग्य, संतोष, दान के सिवा और हो भी क्या सकता था। तुलसी का विश्वास था कि तत्कालीन साम्राज्य के दमन चक्र के विरुद्ध धर्मचक्र से ही विजय प्राप्त हो सकती है। आधुनिक युग में महात्मा गाँधी ने अंग्रेजी के दमन और शोषण के विरोध में ऐसे ही आचार-नीति-निर्मित रथ की कल्पना की थी।

तुलसी ने अपने युग की विषम परिस्थितियों को भलीभाँति समझकर ही अपने काव्य के नायक का चरित्र निर्मित किया है। हताश और पददलित जातियाँ जब बाह्य उद्बोधन से नहीं जागती तो उन्हें अंत: उद्बोधन से जगाया जाता है। तुलसी ने इसी अंत:उद्बोधन का संदेश रामचरित मानस द्वारा उत्तरभारत की जनता को दिया था। तुलसी राजनीतिवेत्ता थे या नहीं, यह मैं नहीं जानता किंतु वे लोकनायक थे यह सर्वस्वीकृत मत है। लोकनायक को राज्य के विधि-विधान के लिए व्यवस्था-निर्माण करना चाहिए। इस संदर्भ में मानस का सप्तम सोपान-उत्तरकांड पठनीय है। इस सोपान में तुलसी ने रामराज्य की बहुत सुंदर कल्पना की है। यह रामराज्य किसी एक जाति, धर्म या देश का राज्य न होकर भूतल के सभी देशों को लिए स्वीकार्य हो सकता है। रामराज्य का तात्पर्य प्रजाजन का मंगलमय जीवन है। तुलसी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिस राजा के राज्य में प्रजा दुखी रहती है वह राजा नरक का अधिकारी होता है। 'जासु राज प्रिय दुखारी। सो नृत अवस नरक अधिकारी।' रामराज्य की कल्पना में जो सार्वभौम वैशिष्ट्य है उस पर ही ध्यान देना चाहिए :

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहू व्यापा।।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्व धरम निरत श्रुति नीती।।
अल्प मृत्यु नहिं कब निउ पीरा। सब सुंदर सब निरज सरीरा।।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कउ अबुध न लक्षण हीना।।
सब निर्भय धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी।।
सब गुणज्ञ पंडित सब ज्ञानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी।।

रामराज्य की यह कल्पना देशकाल की सीमाओं में आबद्ध नहीं है। त्रिताप से मुक्त होकर परस्पर प्रीतिपूर्वक रहने का इस व्यवस्था में विधान है। स्वधर्म में आस्था और विश्वास रखने की पूरी छूट है। दीर्घ जीवन की आकांक्षा है, पीड़ा रहित, रोगरहित सुंदर काया की कामना है। दारिद्र्य और दैन्य से दूर रहना है। सब विद्वान गुणज्ञ और सुसंस्कृत हों, सब निर्भय हो, धर्मपरायण हों, नर-नारी का भेद न हो और सब चतुर हों। सब पंडित और ज्ञानी हों, सब कृतज्ञ हों, कपटाचरण से दूर हों। यही वास्तविक रामराज्य का आदर्श है। ऐसे रामराज्य की आकांक्षा कौन नहीं करेगा?

सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों के प्रति जैसा आग्रह तुलसी की रचनाओं में लक्षित होता है वह सार्वभौम स्वीकृति पर भी खरा उतरता है। वर्णाश्रम की परंपरावादी मर्यादा को यदि छोड़ दिया जाए तो तुलसी की नैतिक मूल्य विषयक अवधारणा को किसी भी निकष पर अव्यवहार्य नहीं कहा जा सकता।

नारी विषयक दो चार अर्धालियों के आधार पर तुलसी को नारी निंदक कहने का चलन है किंतु नारी महिमा और नारी प्रतिष्ठा के दर्जनों प्रसंगों को छोड़ दिया जाता है। वस्तुत: भारतीय समाज को उस युग में जिस आस्था और विश्वास की आवश्यकता थी वही राम चरित मानस के माध्यम से तुलसी ने प्रदान किया था। पराजित जाति को विवेक के आश्रय से आस्था के संबल से, स्वावलम्बन के सहारे से पुनर्जीवित किया था। अन्याय के प्रतिरोध का नया रास्ता दिखाया था। उसे युगबोध के साथ अनागत भविष्य के निर्माण का संकेत दिया था। यही कालजयी कृति की अक्षुण्ण मर्यादा है। □

ललित निबंध

प्रिय पुत्र, अमृत लेकर ही लौटना

कुबेरनाथ राय

रामायण का प्रथम शब्द है 'तप'। तितिक्षा तप का ही एक रूप है। तितिक्षा अर्थात् सहन करने की, अपनी दु:खद नियति को स्वीकार करके धैर्यधारण करने की ओर धैर्यपूर्वक सब कुछ बरदाश्त करते रहने की क्षमता। मनुष्य के मन में, उसके गहन गंभीर अंतर के आखिरी तल में कोई देवता बैठा है, मूलाधार के नागपर्यक पर कोई भगवती शक्ति है तो निरंतर तप कर रही है और उसी के तपोबल पर जीवन टिका हुआ है। मनुष्य अपनी हताशा के चरम अंध क्षणों में डूबता-डूबता इसी देवता से जा जुड़ता है और इस तरह वह सर्वथा समाप्त होने से बच निकलता है। वही देवता उसके धैर्य और उसकी तितिक्षा के मूल में है। उसी के बल पाकर वह शील का पथ नहीं छोड़ता और नियति द्वारा आरोपित सब कुछ बरदाश्त कर जाता है। रामायण का प्रत्येक सही पात्र तपता है। सूर्य की तरह अपने को दग्ध करता है और इस तप के भीतर वह निरंतर मधुमय होता जाता है, और अपने आसपास के संपर्क को वह मधुमय करता रहता है। सूर्य अंतरिक्ष में माधवी कला का जिस प्रकार विस्तार करता है वैसे ही जीवन मूल में बैठी हुई वह सविता शक्ति भी जीवन के प्रत्येक क्षण को काल की मधु नाड़ी में परिवर्तित करती रहती है। सारी रामकथा इसी जीवन-सूत्र को अभिव्यक्त करती है। यह क्रिया ही महाकाव्य की करुणा में महिमा को प्रतिष्ठित करती है। मानवीय स्तर पर एक से एक करुणाजनक दृश्य और करुणाधीर चेहरे उपस्थित होते हैं जिनके भीतर सूर्य तप रहा है और उन्हें मधुमय करता जा रहा है। ऐसी ही करु चेहरों में एक चेहरा है राम की माँ का। कौशल्या के लिए तुलसी का एक वाक्य आता है 'जिमि करुणा धरि देह बिसूरति', मानो साक्षात् करुणा ही देह धारण करके बिसूर रही हो। कौशल्या अपने व्यक्तिगत दु:ख या व्यक्तिगत करुणा का प्रतीक न होकर साक्षात् करुण रस हो गयी है और उसकी करुणा किसी सार्वभौम 'अनुभाव' का रूप धारण कर चुकी है। अनुभव नहीं 'अनुभाव'। अनुभव व्यक्तिगत होता है तो 'अनुभाव' सार्वभौम। जब अनुभव अनुभाव बन जाता है तो वह 'रस' रूप धारण कर लेता है। वात्सल्य-रस में एक करुणा निहित है और इसका प्रतीक है सवत्सागो। सवत्सागो करुण रस की नहीं, बल्कि सकरुण वात्सल्य रस की प्रतिमा होती है। कौशल्या एक ऐसी ही प्रतिमा बन कर अयोध्याकांड के रामवनगमन के अवसर पर कवि द्वारा उपस्थित की जाती है। सीता के वर्णन को पढ़कर बहुत कम लोगों को अपनी पत्नी का स्मरण होगा, परंतु कौशल्या के वर्णन को पढ़कर सबको, चाहे वह राजा हो या रंक, अपनी माँ का अनायास स्मरण हो जाता है, अपने

निजी जीवन के कुछ प्रसंग बरबस याद आ जाते हैं। यह है उसकी सार्वभौमता का प्रमाण। कौशल्या वात्सल्य की तथा पुरुष प्रधान समाज में निरंतर व्रतधारण करके तपोरत रहने वाली भारतीय माँ और भारतीय नारी का सार्वभौम प्रतीक है। इसी से मैं कहता हूँ कि वह रामायण में रस-रूप हो गयी है।

जब वह कहती है, 'हे राम जैसे दुर्बल गाय अपने बछड़े के पीछे-पीछे बन में चलती है वैसे ही मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे वन चलूँगी' (अ.का./२०/५४) तो हमारे सामने एक सवत्सा धेनु का दीन करुणा बिंब उभरता है जो उसके पूर्व जीवन और वर्तमान के अंदर निहित सारी बेवसी, सारी त्राहि, और सारी ममता को गंभीर रूप में व्यक्त करता है। राम जब अपने वनवास का प्रथम संवाद स्वयं उसे देते हैं तो वाल्मीकि के अनुसार 'तीक्ष्णधार परशु से काटे गये कदली वृक्ष' की तरह वह ढह पड़ती है और दीर्घ जीवन यात्रा में मर्यादा और मौन तितिक्षा का भार ढोते-ढोते थकी हुई वह धूल में वैसे ही लोटने लगती है जैसे दीर्घश्रम से थकी हुई, धूल में हाथ-पाँव पटकती हुई घोड़ी! वह प्रथम आघात को सँभाल नहीं पाती और जो प्रथम भाषा उसके मुख से निकलती है वह एक प्रतापी सम्राट के अंत:पुर में निहित अव्यक्त त्राहि और दैन्य की प्रथम अभिव्यक्ति है। 'राम, मैं बंध्या नारी से भी अधिक अभागिन हो गयी। श्रेष्ठसती रहते हुए भी मुझे जीवन में कोई सुख नहीं मिला।' दशरथ के अंत:पुर में तीन सौ पचास रानियाँ और रक्षिताएँ थीं (अयोध्याकांड, श्लोक ३६/सर्ग ३९) सबसे ज्येष्ठ और वरिष्ठ राजमहिषी के बाहरी सम्मान के बावजूद पति के आकर्षण और प्रीति का कितना पात्र वह रह सकी होगी, यह कल्पना सहज ही की जा सकती है। सारा जीवन मुँह बंद कर वह सब्र करती रही। वह कहती है, 'मैं आजीवन सौतों के व्यंग वचनों से बिद्ध होती रही। तो भी संतोष था कि शायद पुत्र द्वारा कुछ सुख प्राप्त हो। आज जब मेरी देह यौवनहीन हो चुकी है, मैं पुन: दासी कोटि में विधाता द्वारा डाल दी गयी।' मात्र तीन सौ सुंदरियों के अंत:पुर में जो हिंसा द्वेष और आत्मपीड़न का वातावरण रहा होगा उसका हल्का संकेत कौशल्या की इन उक्तियों से मिल जाता है। रामायण में यह प्रसंग कहीं भी उभरकर सामने नहीं लाया गया है। ऐसा करना महाकाव्य के घोषित उद्देश्य के प्रतिकूल 'विरोधी रस' की सृष्टि करता। महाकाव्यकार को सर्वत्र ही विषयगत अनुशासन बरतना पड़ता है। परंतु इन उक्तियों से भीतरी स्थिति का संपूर्ण संकेत मिल जाता है।

तत्पश्चात् आते हैं लक्ष्मण के रोष और राम के सान्त्वना प्रयास के प्रसंग। अल्पकाल बाद ही यह महीमयसी नारी अपनी शांत और धैर्यभरी महिमा में पुन: स्थित हो जाती है और सारी नियति को स्वीकार करके अपनी भावनाओं का कंठ दबाकर उन्हें वहीं शांत कर देती है। अंतर का देवता जो आत्मा के अतल में बैठा हुआ निरंतर तितिक्षा और धैर्य का अमृत आजीवन देता रहा है, पुन: सक्रिय हो उठता है और उसे अपने कर्त्तव्य का स्मरण हो आता है वह पुत्र को साश्रुकंठ आशीर्वाद देती हुई कहती है, 'हे पुत्र, जब तुमने सत्यरक्षा के लिए बन जाने का संकल्प कर ही लिया है तो उससे मैं तुम्हें किस प्रकार विचलित कर सकती हूँ? काल ही बलवान है। तुम भी उसी काल के प्रति नतमस्तक होकर बन को जाओ। भाग्य की गति प्रबल है। तुम मेरी अनसुनी करके वन जाने पर तुले ही हो तो जाओ, फिर कल्याणपूर्वक घर लौटो। इससे अधिक क्या कहूँ? तुम्हारे फिर लौट आने पर तुम्हारा मुख देख पाऊँगी या नहीं यह तो नहीं जानती। परंतु इस वन यात्रा के अवसर पर मैं तुम्हारे लिए स्वस्तिवाचन करती हूँ।'

ऐसा कहकर राम की माँ ने उनकी यात्रा की मंगलकामना करते हुए एक अद्‌भुत स्वस्तिवाचन किया जो पूरे महाकाव्य में कई दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है। कौशल्या के सबसे पहले देवता को नहीं शीलाचरण और पौरुष का स्मरण किया और कहा,

नशयसे वारयि तुं गच्छेदानीं रघूत्तम।
शीघ्रं च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे।
यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या नियमेन च
सर्वे राघव शार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु।
येभ्य प्रणमसे पुत्र देवेष्वायतनेषु च
ते च त्वामभिरक्षन्तु वने सह महर्षिभिः
यानि दत्तानि तेऽस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता
तानि त्वामभिरक्षन्तु गुणैः समुदितं सदा।'

—अयोध्याकाण्ड (२५/२-५)

(हे राम, तुम्हें रोका नहीं जा सकता। पर शीघ्र लौटना और मेरी इस बात का सर्वदा ध्यान रखना कि तुम सदा सद्मार्ग पर चलोगे, तुम उसी पथ पर विचरण करोगे जिस पर सद्पुरुष विचरण करते आये हैं।

हे रघुकुल सिंह, जिस धर्म का तुमने पालन किया है वह धर्म अर्थात् तुम्हारा आचरण ही तुम्हारी रक्षा करें।

जिन देवस्थानों और ऋषिकुलों को तुमने अपनी श्रद्धा अर्पित की है वे देवता और ऋषि तुम्हारी रक्षा करें।

जिन अस्त्रों की तुमने गुरुओं से शिक्षा ग्रहण की है, वे अस्त्र तुम्हारी रक्षा करें।)

रामकथा 'ऋत' (धर्म या विधान) का महाकाव्य है। 'ऋत' ही 'सत्य' है। ऋतानुसार आचरण का नाम है शील। यों 'शील' शब्द स्वयं में एक विस्तृत शब्द है। हिंदी में इसका लौकिक प्रयोग इसके सीमित अर्थ 'भद्रता' 'संकोच' या 'मुरौवत' के अर्थ में होता है। परंतु इसका व्यापक अर्थ है चरित्र का सौंदर्य या आचरण-सौंदर्य। सुंदर या भव्य वही है जो 'ऋत' या 'सत्य' के अनुकूल हो, जो धर्म या विधान के प्रतिकूलन हो।

बौद्धों ने तो इसे 'धर्म' के प्रति शब्द के रूप में देखा है। किसी वस्तु का प्राकृतिक सहज धर्म उसका स्वभाव रचता है। इसी से शील का अर्थ 'आचरण' के साथ 'स्वभाव' भी हो गया। कर्म का स्रोत है मन और मन स्वभाव का जनक होता है। अतः व्यक्तिगत संदर्भ में शील का अर्थ होता है स्वभाव-सौंदर्य और सामूहिक संदर्भ में इसका अर्थ होता है आचरण-सौंदर्य। स्वभाव और आचरण एक दूसरे से जुड़े हैं और शील शब्द दोनों को व्यक्त करता है और दोनों की भव्यता की कसौटी है 'ऋत'। वस्तुतः 'ऋत' शब्द का जो वैदिक साहित्य में स्थान है 'शील' का वही स्थान है बौद्ध साहित्य में और पुराणों में 'ऋत' एवं 'शील' के ही समगोत्र 'धर्म' शब्द को व्यवहृत किया है। व्यवहारतः ये तीनों एक ही अर्थ देते हैं। 'ऋत' एवं 'धर्म' की तरह 'शील' शब्द का भी अनुवाद अभारतीय भाषा में असंभव है। डॉ. कृष्णचैतन्य ने इसको 'सोशीओ कलचरल ब्यूटी' कहा है। परंतु केवल 'ब्यूटी' से काम नहीं चलता क्योंकि इस 'शील' शब्द में 'गुडनेस' का भाव भी अंतर्निहित है। आसुरी जीवन की 'सशोओ कलचरल ब्यूटी' को 'शील' नहीं माना जा सकता।

रामायण स्वभाव और आचरण की भव्यता और दिव्यता का महाकाव्य है। इसी से इसे शीलप्रधान महाकाव्य कहते हैं। इस तथ्य का संकेत कौशल्या के जीवन के एक चरम महत्व के क्षण पर आशीर्वाद देते हुए प्रथम वाक्यों में ही कहती है, 'पुत्र, तुम सद्पुरुषों के मार्ग पर चलोगे, धर्म का पथ तुम्हारा पथ होगा, तुम्हारा आचरण ही सर्वत्र तुम्हारी रक्षा करेगा।' ऐसा कहकर कौशल्या एक बहुत बड़े सिद्धांत का प्रतिवाचन कर देती है कि मनुष्य का रक्षक, उसके अभय का स्रोत उसका 'शील' ही है।

तत्पश्चात् आते हैं उसकी उपासना का पुण्य और उसकी अर्जित विद्या का बल। वह स्वस्तिवाचन के प्रारंभ में यह नहीं कहती कि भगवान तुम्हारी रक्षा करें। बल्कि वह कहती है, 'पुत्र तुम्हारा शील तुम्हारी रक्षा करे, तुम्हारी उपासना का पुण्य तुम्हारी रक्षा करें और तुम्हारी अर्जित अस्त्र-विद्या तुम्हारी रक्षा करें।' शील, उपासना और विद्या यह ही तीन मनुष्य के प्रथम रक्षक हैं। इनके बाद आती है देवताओं की कृपा या करुणा। रामायण बीरगाथा है। अत: आशीर्वाद के प्रारंभ में ही पौरुषवाद की स्थापना कर दी गयी। परंतु शील और उपासना से रिक्त हुई शुद्ध 'सेक्यूलर' दृष्टि से किया गया पौरुष दिव्य या भव्य नहीं होता। शील निरपेक्ष और उपासना निरपेक्ष विद्या-बल, अस्त्रबल, और पौरुष उस मंगल की भूमि से नहीं जुड़ पाता जो रामकथा का अभिप्रेत है। आधुनिक 'सेक्यूलर' मानववाद की पराज्य का यही रहस्य है। आधुनिक सभ्यता की सारी उपलब्धियों का पतन अवदमनों और शोषण प्रक्रियाओं के पुनरावर्तन में इसीलिए हो जाता है कि इसमें शील और उपासना का तुलसी दल नहीं पड़ा है। वाल्मीकि का नायक जिस पौरुष योग या 'पुरुषार्थ योग' का प्रतीक है। वह प्रत्येक स्तर पर शील और उपासना से जुड़ा हुआ है। कौशल्या इन तीन तत्वों का संकेत करके आगे के स्वस्तिवाचन में तत्कालीन देव-मण्डल के प्रति अपने पुत्र की रक्षा के लिए अपनी प्रार्थना व्यक्त करती है।

तत्पश्चात् कौशल्या अपने प्रिय पुत्र के कल्याण के लिए जड़चेतन व्याप्त वैदिक देव मण्डल के प्रति अपनी प्रार्थना अर्पित करती है। यह देव-स्तवन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है और 'रामायण' कालीन धार्मिक चेतना पर प्रकाश डालता है। यह प्रार्थना इस तथ्य की द्योतक है कि काव्य की रचना पौराणिक युग के पूर्व और वैदिक युग के बाद संभवत: ब्राह्मण काल में हुई होगी। पुराणों की वरेण्य उपासना मूर्तियों, शिव, विष्णु, दुर्गा, लक्ष्मी आदि का इसमें स्तवन नहीं है। इस प्रार्थना की प्रकृति मूलत: वैदिक है और वैदिक लोकायत धर्म (आर्य और आर्येतर) के देवता ही इसमें मुख्य रूप से आते हैं। लोकायत धर्म जो आर्य-आर्येतर जन समाज का विमिश्र लोकधर्म था वृक्ष पूजा, नदी पूजा, ऋतु पूजा, संवत्सर की शक्तियों ग्रह, नक्षत्र, वीर-'बरम', यक्ष-किन्नर आदि की पूजा से जुड़ा था। आर्य लोकधर्म में वेदी, कुशा, होमाग्नि आदि भी देव प्रतीक थे। इन सबके प्रति राम-माता साश्रुकण्ठ से पुत्र के कल्याण की याचना करती है।

'हे पुरुषोत्तम ऋषियों की होमग्नि तुम्हारी रक्षा करें, उनकी कुशा उनकी होमवेदी और उनके आहूत देवता तुम्हारी रक्षा करें।

'सारे पर्वत तुम्हारी रक्षा करें, सारे जलाशय तुम्हारी रक्षा करें, सारे वृक्ष, कीट-पतंग, हाथी-सर्प और सिंह तुम्हारी रक्षा करें।

'हे राम, सघन वन में दिशाओं के लोकपाल तुम्हारी रक्षा करें, षट ऋतुओं के अभिमाली देवता तुम्हारी रक्षा करें, दिवस, मास, संवत्सर आदि काल खण्डों के देवता तुम्हारी रक्षा करें, चंद्रमा और सूर्य तुम्हारी रक्षा करें, नक्षत्रों की कलाएँ, ग्रहों की कक्षाएं तुम्हारी रक्षा करें, सप्तर्षि मंडल तुम्हारी रक्षा करें, विविध नक्षत्र मण्डलों के देवता तुम्हारी रक्षा करें, व्योम के ज्योतिष्क चक्र की सारी गतियाँ, आकृतियाँ और संपूर्णकाल चक्र ही तुम्हारी रक्षा करता चले।

'मैं कुमार कार्तिकेय, चंद्रमा, इंद्र और वृहस्पति से याचना करती हूँ कि तुम्हारी रक्षा करें, मैं वरुण कुबेर आदि दिशाओं के अधिपतियों से, सारे सिद्धगणों से, तुम्हारी रक्षा की भीख माँगती हूँ। शुक्र, चंद्र, सूर्य, ग्रहगण तुम्हारी रक्षा करें, मृत्यु का अभिमानी देवता यम तुम्हारी रक्षा करें।

'हे पुरुष सिंह, पृथ्वी, आकाश, पवन, चर और अचर जीवगण तुम्हारी रक्षा करें।.......... घोर अरण्य में घूमते हुए क्रूर अपदेवता और पिशाचगण तुम्हें न सतावें। जो मांस भक्षी हैं, वे तुम्हें न

पीड़ित करें। वानर, बिच्छू, मच्छर, सर्प, हाथी, सिंह, वृक, वाराह और तीक्ष्ण धारदार सींगों वाले महिष तुम को पीड़ा न दें। ये सभी मेरे द्वारा पूजित हों, इनके नियामक देवगण मेरे द्वारा पूजित हों। मैं इन सबकी आराधना करती हूं। ये तुम्हें पीड़ा न दें।

'हे राम, जल में स्नान करते हुए ऋषियों द्वारा अघमर्षण सूक्तों और मंत्रों में जो बल है, सुगंधित होम में जो बल है, वायु और अग्नि में जो बल है, वे सारे बल तुम्हारी रक्षा करें।

'सर्वव्रतों का कर्ता, सर्वलोकों का प्रभु ब्रह्मा या प्रजापति तथा ऋषि कुल तुम्हारी रक्षा करें।

'और अंत में मेरा आशीर्वाद है कि तुम्हारे द्वारा पढ़ा गया समस्त आगम शास्त्र तुम्हारा कल्याण करें, तुम्हारा पराक्रम सिद्ध हो, वन में तुम्हें ऐश्वर्य प्राप्त हो, तुम्हारा पथ कल्याणमय हो।'

(अयोध्याकाण्ड)

इस स्वस्ति-प्रार्थना से ज्ञात होता है कि 'प्रजापति' ब्रह्मा ही रामायण काल के मुख्य देवता थे और इंद्र-अग्नि आदि का महत्व पीछे चला गया था। संहिता-काल के मुख्य देवता थे मित्र, वरुण, इंद्र, सोम और अग्नि। ब्राह्मण-आरण्यक काल में कर्मकाण्ड का विस्तार हुआ और सर्वदेवोपरि 'प्रजापति' 'गणाधिपति' 'वृहद्पति' आदि संज्ञाओं से प्रजापति ब्रह्मा ही मुख्य देवता बने। इसी से कौशल्या अपनी मंगलप्रार्थना के उपसंहार में 'सर्वलोक प्रभुर्ब्रह्मा तथर्षय:' का स्पष्ट उल्लेख करती है। रामायणकाल वाल्मीकि महाकाव्य के प्रारंभ में ही ब्रह्मा प्रजापति को ही अपनी प्रेरणा-स्रोत बनाते हैं। रामायण का प्रतिनायक रावण प्रजापति का और मेघनाथ वैश्वानर (अग्नि) का उपासक है। विष्णु के अवतारों में त्रिविक्रम वामन-अवतार का मूल 'संहिता' में है। परंतु मत्स्य और वराह अवतारों का मूल ब्राह्मण-ग्रंथों में है ('वृषाकपि और 'वराह' का उल्लेख वेदों में है परंतु वे स्पष्टत: विष्णु के अवतार के रूप में उल्लिखित नहीं) इस अवतार का स्पष्ट उल्लेख 'तैतिरीय संहिता' और 'शतपथब्राह्मण' में है।

'प्रारंभ में केवल जल था, महासमुद्र था। प्रजापति ने मरुत का रूप धारण किया और समुद्र पर संचरण करने लगा। प्रजापति ने पृथ्वी को देखा, 'वराह' रूप धारण करके उसे ग्रहण कर लिया। तब प्रजापति ने विश्वकर्मा का रूप लिया, उसे स्पर्श किया, फैलाया जिससे कि वह 'विस्तीर्ण हो जाय! वह पृथुल हो गयी। इसी से पृथ्वी कहलायी। प्रजापति ने उसके भीतर अपने को रिक्त कर दिया (जैसे पत्नी में पति अपने को रिक्त कर देता है) और (इस प्रकार) वसुओं, रुद्रों और आदित्यों तथा देवताओं को जन्म दिया।'

(तैत्तरीय संहिता)

'प्रारंभ में पृथ्वी बित्ते भर की थी। एक वराह ने उसे ऊपर उठा लिया। उसे 'एमूष' कहा गया। वह वस्तुत: प्रजापति ही था। वही पृथ्वी का प्रिय पति था वह उसकी प्रिय भार्या थी तथा प्रिय अधिष्ठान थी।'

(शतपथ ब्राह्मण)

वराह की 'यज्ञ वराह' के रूप में कल्पना के पीछे यही हेतु है कि वह मूलत: यज्ञ का प्रधान देवता प्रजापति ही थी। यह भाव पौराणिक युग में भी समाप्त नहीं हुआ था 'विष्णु पुराण' तक। विष्णु पुराण में भी वराह अवतार को 'नारायण' संज्ञा वाले ब्रह्मा का अवतार बताया गया है और यज्ञ पुरुष के रूप में वराह ('वर' श्रेष्ठ 'आह' आहरण-भक्षण करने वाला अर्थात् 'य पुरुष') की स्तुति की गयी है।

'प्रजा: ससर्ज भगवान् ब्रह्मा नारायणात्मक:
प्रजापति पतिर्देवो तथा तन्मे निशामय।'

....
तोयान्तः स्थां महीं ज्ञात्वा जगत्येकार्णवीकृते
अनुमानात्तदुद्धारं कर्तुकामः प्रजापतिः।
अकात्स्वतनमन्यां कल्पादिषु यथा पुरा
मत्स्यकूर्मादिकां तद्वद् वाराहं वपुरास्थितः
वेदयज्ञमयं रूपमशेष जगतः स्थितौ
स्थितः स्थिरात्मा सर्वात्मा परमात्मा प्रजापतिः।'

(प्रजापतियों के स्वामी नारायणात्मक ब्रह्मा ने जिस प्रकार प्रजा सृष्टि की वह मुझसे सुनो।.......... संपूर्ण जगत जलमय हो रहा था। इससे प्रजापति ने अनुमान से पृथ्वी को जल में स्थित मानकर उसके उद्धार के लिए एक दूसरा शरीर धारण किया और पूर्वकल्पों में जैसे मत्स्य कर्म आदि वपु ग्रहण किया था उसी भाँति (इस वाराहकल्प में) वाराहवपु को प्रजापति ने धारण किया और वे सर्वात्मा प्रजापति जो वेद यज्ञमय हैं संपूर्ण जगत की स्थिति में तत्पर हो स्थित हो गये। (वि.पु. १/४/२-९)

प्रजापति के बाद वैदिक देवताओं तैतीस संख्या व्यूह (१२ आदित्य ११ रुद्र ८ वसु २ अश्वि द्वय) ब्राह्मण काल में वरेण्य और ज्येष्ठ माना जाता था। रामायण में इनकी उपासना ही आर्य धर्म का मूल स्वरूप थी और उपासना-पद्धति थी यज्ञकर्म। परंतु इनके अतिरिक्त चंद्रमा, सप्तर्षि, नारद, दिग्पालगण, ग्रह-नक्षत्र आदि का उपास्य देवों में स्थान था जो 'आर्यलोकायत धर्म' के अंग थे। इस स्वस्तिवाचन के पूर्व अयोध्याकाण्ड में ही १९वें सर्ग में एक प्रसंग आता है। वहाँ पर कैकेयी अपने वरदान के साक्षी के रूप में जिन देवताओं का नाम लेती है उनकी सूची भी कौशल्या स्वस्ति-वाचन-प्रसंग में आयी सूची से मेल आती है।

'तच्छृणवन्तु मयत्रिंशदेवाः सेन्द्रपुरोगमाः

....
चंद्रादि त्यौ नभश्चैव ग्रहराम्याहवी दिशः
जगच्च पृथ्वी चेयं सगंधर्वा-सराक्षसाः
निशाचरानि भूतानि गृहेषु गृहदेवताः
यानि चरन्यानि भतानि जानी युः भाषितं तव।'

('अयोध्या' (११/१३-१५)

अयोध्याकाण्ड में एक स्थान पर राम और सीता द्वारा नारायण अर्चना का वर्णन है। यों भी 'रामायण' एक वैष्णव काव्य है। परंतु न तो कैकेयी के साक्ष्य और न कौशल्या के स्वस्तिवाचन में शिव और विष्णु का उल्लेख है। इसका अर्थ यही है कि रामायण की रचनाकाल में विष्णु महज एक आदित्य थे। रुद्र की स्थिति भी प्रधान नहीं गौण थी। यह ब्राह्मण ग्रंथों का काल था जब विष्णु प्रतिष्ठित होने की दिशा में उन्मुख थे परंतु अभी सर्वोपरि परम रूप में प्रतिष्ठित नहीं हुए थे जैसा कि पुराणों और 'महाभारत' में उन्हें हम पाते हैं। 'महाभारत' के मंगलाचरण में ही हम पाते हैं :

'आद्यं पुरुषमीशानं पुरुहूतं पुरुष्टतम्
ऋतं एकाक्षरं ब्रह्म व्यक्ताव्यक्तं सनातनम्

....
मंगल्यं मंगलं विष्णु वरेण्यं अनघंशुचिम्
नमस्कृत्यं ऋषीकेशं चराचरं गुरुं हरिम्।'

'महाभारत' में सर्वत्र निर्गुण और सगुण दोनों ब्रह्म के रूपों को विष्णु माना गया है। परंतु रामायण में

इस प्रक्रिया की शुरुआत ही है जो स्पष्टतः कहीं भी व्यक्त नहीं होती। वस्तुतः यह तथ्य भी एक बहुत बड़ा प्रमाण है इस बात का कि रामायण महाभारत से प्राचीनतर रचना है। महाभारत तक आते-आते विष्णु तत्व अपनी चरम प्रतिष्ठालब्ध कर लेता है। पर रामायण काल में वे वैदिक देव-व्यूह, साध्यगण, मरुद्गण, धाता, विधाता, अर्यमा, पूषा भग का ही प्राधान्य है। विष्णु और इन्द्र भी रामायण काल में पूज्य थे। परंतु विष्णु अपनी सीमित वैदिक कालीन महिमा में ही थे। उन्हें सर्वोपरि और सर्वव्यापी महिमा अभी प्राप्त नहीं हुई थी।

विष्णु की एक मूर्ति जलशायी नारायण की उपासना का उद्भवकाल भी यही युग था। नारायण रूप को चरम प्रतिष्ठा व्यास के द्वारा 'महाभारत' और पुराणों के माध्यम से मिलती है। इस मूर्ति का स्पष्ट उल्लेख रामायण में उपास्य देवता के रूप में नहीं। परंतु रघुकुल में नारायण संज्ञक देवता की आराधना भी चलती थी, ऐसा महाकाव्य के अयोध्याकाण्ड से ही प्रमाणित होता है। राज्याभिषेक के पूर्व कृत्यों का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने राम के व्रत उपवास के साथ-साथ 'ध्यान्नारायणं देवं स्वास्तीर्णं कुश संस्तरे' ('अयोध्या' (सर्ग ६/श्लो. ३) का उल्लेख किया है। यह नारायण-उपासना के अस्तित्व का संकेत है। कुछ पंडितों की राय में यह श्लोक प्रक्षिप्त हो सकता है क्योंकि नारायणोपासना ब्राह्मणग्रंथों के कर्मकाण्डी युग में प्रचलित नहीं थी। किंतु ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। उपासना लौकिक और वैदिक दोनों तरह की होती है। नारायण भारतव्यापी लोकसंस्कृति के देवता रहे होंगे। मूर्ति पूजा एवं देवमूर्ति की कल्पनाएँ आर्येतर लोक-पक्ष, से आकर बाद में अभिजात शास्त्रीय उपासना बनी हैं। शैव और वैष्णव उपासना के अनेक प्रधान सूत्र और कल्प लोकपथ से उपासना के 'बृहदसाम' या 'लोकसामा' से ग्रहणकर के विकसित किये गये हैं परंतु उनकी प्रकृति को वैदिक धर्म के अनुकूल संशोधित करके जब उत्तर भारत में 'आर्य-आर्येतर लोकधर्मों का समन्वय हो रहा था, उसी काल में रामायण की रचना हुई। संभवतः यह 'नार' (जल) में 'अयन' (शयन) करने वाला देवता जिस सगुण रूप में कल्पित है 'शेष शय्या पर की नारायण मूर्ति', यह विशुद्ध आर्य स्रोत से न आकर अवैदिक एवं आर्येतर कल्पना की उपज है। यह आर्येतर स्रोत निषाद-द्राविड़ स्रोत है। निषाद (आस्ट्रिक) और द्राविड़ दोनों समुद्र से जुड़ी जातियाँ हैं और क्षीरसागर, समुद्रसंभवा लक्ष्मी, जलाशायी विष्णु की मूर्ति कल्पनाएँ उनकी ही लोकाश्रयी श्रुतियों का पौराणिक विस्तार है। परंतु आर्यों ने उन्हीं आर्येतर लोकानुश्रुतियों को पुराणों में प्रयुक्त किया है। जिनका बीज या बिंब संहिताओं के मंत्रों के प्रचलित बिंबों में खप सकता था। उन्होंने अपनो आदित्य रूप हिरण्यमय विष्णु को सगुणमूर्ति में श्याम रंग दे दिया आर्येतर सौंदर्य-कल्पना के दबाव से तो इसलिए कि उनके भीतर भी पहले से ही 'कृष्ण सूर्य' (रात्रि सूर्य) की कल्पना विद्यमान थी। उन्होंने शिव में अनेक महायक्ष या महाभूत रूप निषाद किरात देवताओं को अंतर्भुक्त किया। परंतु रुद्र पूषन मरुत की अवधारणाओं से समरूपता रखते हुए। इसी तरह नारायण की सगुण मूर्ति का प्रचार आर्येतर कल्पना से ग्रहण किया गया, परंतु इसके साथ ही एकार्णव जल में स्थित 'प्रजापति' और 'सहस्र शीर्षी पुरुष' के वैदिक बिंब आर्य कल्पना में पहले ही से मौजूद थे। इन वैदिक बिंबों से मेल खाती हुई आर्येतर लोकायत कल्पना की शुद्धियाँ ग्रहण की गयी हैं। अतः नारायण-विग्रह एक समन्वय का प्रतीक है। जलशायी या शेषशायी मूर्ति का सबसे प्रसिद्ध विग्रह भारत में श्री रंग-विग्रह है। यह वैष्णव धर्म के प्रधान श्री विग्रहों में से एक है। इसके बारे में एक लोकापवाद है कि यह रघुकुल की इष्ट-देवता मूर्ति थी। राम ने विभीषण को प्रदान किया था। वे इसे लंका ले जा रहे थे। परंतु मैसूर (विरुचि-कर्णाटक) में ही यह मूर्ति अचल हो गयी। विभीषण वहीं पर इसे स्थापित करके लंका लौट गये। परंतु वे प्रतिदिन अदृश्य रूप से इसका पूजन करते हैं। यह लोक-किंवदंती तो रामकथा के महत्त्व की प्रतिष्ठा के बाद चलाई गयी है। परंतु इसके प्रत्यक्ष संकेत

बड़े मार्के के हैं। पहली बात तो यह कि यह मूल रूप में रामायणकालीन वानर प्रदेश और राक्षस प्रदेश की लोकायत देवता ज्ञात होती है। नाम को लें। 'श्री रंग', यह शब्द 'श्रीलंका' का मूल रूप हो सकता है। 'लंका' ध्वनिखण्ड यदि 'राक्षस पुरी' के अर्थ में केवल विदूषण, विद्रूप और विकृति का द्योतक होता तो मलेशिया के अनेक प्राचीन नगरों का नाम 'काम रंका' (रंका-लंका) नहीं होता। मलेशिया के निवासी निषाद (आस्ट्रिक, मालय या नाग) जाति के हैं। ये ही यक्षपूजा की लंका भी पहले 'यक्षपुरी' थी, यह सूचना भी संकेत-पूर्ण है। 'रङ' और 'लङ' ध्वनिखण्ड मूल रूप से एक ही हो सकते हैं और यह 'श्री लंका' भी मूल रूप से 'श्री रंगा (रंगिनी, मनोरम) हो सकती है। वानर-संस्कृति (आस्ट्रो-द्राविड़ जन समुदाय की संस्कृति) कभी लंका तक रही होगी। राक्षसों ने उन्हें खदेड़ दिया होगा (कुबेर के यक्ष अनुचरों को रावण ने मार भगाया था) और श्री लंका पर अपना दखल जमा लिया होगा। राक्षसों के शासनकाल में यह 'श्री रंग' देवता भी उपेक्षित रहा होगा और राक्षस अपने लोकदेवता 'निकुम्भिवक्तर' या वैदिक प्रजापति एवं वैश्वानर की उपासना करते होंगे। सुंदरकाण्ड में राक्षस वेदपाठियों का वर्णन मिलता है। मुझे लगता है कि यह राक्षस संस्कृति आदिम अनगढ़ आर्य संस्कृति ही थी। राम विकसित एवं प्रगतिशील आर्य संस्कृति के प्रतीक हैं जो स्थानीय आर्येतर से समन्वित करके भिन्न संस्कारों को विकसित कर रही थी। वे नये संस्कार ही पौराणिक भारतीय संस्कृति और वैष्णव भागवत या शैव संस्कृति के रूप में 'महाभारत' तक आते-आते प्रतिष्ठित हो गये। राम 'नव्य आर्य' थे, तो रावण 'आदिम आर्य' जिसके खूंखार और पौरुष प्रधान रूप का चित्र होमर के ग्रीम महाकाव्यों में सुरक्षित है। नव्य आर्य धर्म में सविता और विष्णु प्रमुख हो रहे थे और वह आर्येतर लोकधर्म को गंगानदी एवं गांगेय संस्कृति को वरेण्यता प्रदान कर रहा था। इस नयी सांस्कृतिक धारा के नेता थे विश्वमित्र और अगस्त्य। दोनों का आशीर्वाद और दोनों की प्रेरणा राम के जीवन में अभिव्यक्ति पाती है। ऐसी अवस्था में दक्षिण भारतीय लोकदेवता 'श्री रंग' की नारायण मूर्ति को रघुकुल की देवता मानकर विभीषण द्वारा उसे दक्षिणपथ ले जाना लोककल्पना होते हुए भी ऐतिहासिक संकेतों से पूर्ण है। नारायण उपासना लोकपथ से आयी होगी और अखिल भारतव्यापी रही होगी। उसका संकेत रामायण में उतना स्पष्ट नहीं जितना 'महाभारत' में। यह सत्य होते हुए भी उसके अस्तित्व का आभास और उसकी पृष्ठभूमि में धार्मिक उदारदृष्टि का आभास रामायण में पर्याप्त स्पष्ट है। यद्यपि इस स्वस्तिवाचन में इस नारायणाख्य मूर्ति का उल्लेख नहीं। परंतु उसका वैदिक-ब्राह्मण-आरण्यक रूप 'प्रजापति' का ही उल्लेख है। वैदिक प्रजापति जलशायी देवता है और सृष्टि बीजों की योनि है। यही वैदिकेतर नारायण का समानांतर वैदिक रूप है। बाद में यह देवता और यह मूर्ति विष्णु से जुड़ गये। ब्राह्मण का प्रजापति 'वाराह' या 'यक्षवाराह' अवैदिक आर्येतर जलशायी नारायण के बिंब से जुड़कर अपना असली परिचय खो बैठा और 'विष्णु-वाराह' बन गया।

इसके अतिरिक्त कौशल्या का स्वस्तिवाचन तत्कालीन लोकधर्म किरातों की सर्पपूजा, वृक्षपूजा, निषादों की नदीपूजा पर्वतपूजा, गंधर्वयक्ष आदि अपदेवताओं और अर्धदेवताओं की पूजा का स्पष्ट संकेत प्रस्तुत करता है। कौशल्या अपने पुत्र के कल्याण के लिए समस्त जम्बूद्वीप की वैदिक-लोकायत, क्रूर-सौम्य देवता-शक्तियों के प्रति अपनी विनती अर्पित करती है।

इस स्वस्तिवाचन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश हैं प्रारंभ के चार श्लोक जो महाकाव्य की 'शीलवृष्टि' (इथोस) को उपस्थित करते हैं और अंतिम पाँच श्लोक जो महाकाव्य की 'विषयवस्तु' (थीम) का 'संकेत बीज' प्रस्तुत करते हैं। प्रथम की चर्चा हो चुकी है। अब इन अंतिम पाँच श्लोकों को देखें। (अयोध्याकाण्ड, सर्ग २५)

'यन्मंगलं सहस्राक्षे सर्वदेव नमस्कृते
वृत्र नाशे समभवत् तत्ते भवतुमंगलम् ।।३२।।

यन्मंगलमं सुपर्णस्य विनताकल्पयन् पुरा
अमृतं प्रार्थनस्य तत् ते भवतु मंगलम् ।।३३।।

अमृतोत्पादने दैत्यार्न ध्नतो वज्रधरस्य यत्
अदितिर्मंगलं प्रादात् तत् ते भवतुमंगलम् ।।३४।।

त्रिविक्रमान प्रक्रमतो विष्णोरतुलतेजस:
यदासीन्मंगलं राम तत् ते भवतु मंगलम् ।।३५।।
ऋषय: सागरा द्वीपावेदा लोका दिशस्च ते
मंगलानि महाबाहो दिशन्तु शुभ मंगलम् ।।३६।।'

इन पाँच मंत्रात्मक श्लोकों को पढ़ते हुए उस करुणामयी राम माता ने विशल्यकरणी नामकलता का एक खण्ड राम के मणिबंध में उनकी सुरक्षा के लिए बाँध दिया और मातृकंठ वन जाने की अनुमति दे दी।

ये पाँच श्लोक रामायण के 'कथाबीज' को प्रतीक शैली में व्यक्त करते हैं। कौशल्या यहाँ पर चार वैदिक कथा रुढ़ियों का उल्लेख करते हुए अपना आशीर्वाद देती है : (१) वृत्र-इन्द्रद्वंद्व (२) अमृत के लिए 'देवासुरम्' (देवासुर संग्राम) (३) सुपर्ण द्वारा अमृत आहरण (४) त्रिविक्रम, विष्णु का 'स्वराज्य' और यक्ष के लिए विक्रम।

उपर्युक्त चारों वैदिक गाथाओं का रामकथा के मूल रूप 'पौलत्स्यवध' की 'थीम' से एक भावात्मक संबंध है। इनमें वृत्रवध और देवस्सुरम' तो स्पष्टत: रामकथा का ही वैदिक प्राक्रूप व्यक्त करते हैं। वैदिक विद्या मूल रूप से 'शाश्वत सृष्टि-विधा' (कोसमोगोनी) है जिसमें सृष्टि के प्रसव, स्थिति और प्रलय की शक्तियों का विवेचन है। देवगण इसी की शाश्वत, कल्प प्रतिकल्प, दुहरायी जाने वाली क्रियाओं और कर्त्ताओं के प्रतीक हैं। यह अर्थ का 'प्रतीकात्मक'' (सिम्बोलिक) स्तर है। इसी सृष्टि विद्या को वैदिक कल्प (रिच्यूअल) 'यज्ञ' द्वारा भी व्यक्त किया जाता है। सारे यज्ञ कर्म 'पुरुष सूक्त' का क्रियात्मक रूप ही अभिनीत करते हैं। शाश्वत स्वर पर रामकथा सविता-कथा है। वारुणमण्डल का 'तमस' उसका प्रतिरोधक है और उसकी माधवी शक्ति को अवरुद्ध कर देना है। फल होना है द्वंद्व। यही द्वंद्व रामकथा में 'अपहरण-उद्धार' की 'थीम' का रूप लेता है। वैदिक विद्या अर्थ के दूसरे स्तर पर 'देव-कथा' (थीओगोनी) है और इसमें इन्द्र आदि शक्तियाँ 'व्यक्तित्व' धारण कर आती है। यह अर्थ का कथात्मक (माइथोलोजीकल) स्तर है। रामकथा में रामचंद्र 'प्रच्छन्न इन्द्र' की भूमिका में उतरते हैं। रावण 'प्रच्छन्न वृत्र' और 'प्रच्छन्न असुरसेना' का प्रतिनिधि है। सीता 'स्वराज्य' और 'अमृत' है। कौशल्या का आशीर्वाद इसी कथात्मक स्तर से जुड़ा हुआ है। यह आशीर्वाद इसी कथात्मक स्तर से जुड़ा हुआ है। यह आशीर्वाद महाकाव्य के चरम संकट के मुहूर्त में वाल्मीकि द्वारा कौशल्या के मुख से व्यक्त कराया गया है। इस आशीर्वाद की भाषा भी ऊपर के स्वस्तिवाचन की श्लोक-भाषा से भिन्न वैदिक-धातु से गढ़ी गयी भाषा है। इस आशीर्वाद के माध्यम से कवि संकेत कर रहा है कि रामकथा का स्नायुमण्डल वैदिक मनोभूमि से बुना गया है। वैदिक बिंबों और वैदिक तथ्यों का उपबृंहण रामकथा में तरह-तरह से किया गया है।

त्रिविक्रमकथा और सुपर्णकथा से 'सुंदर और 'लंका' कांड का विषय ध्वनित होता है। विष्णु के अमित तेज और बल का प्रतीक है त्रिलोकी सृष्टि को तीन पगों से माप जाना। हनुमान का समुद्रलंघन

और राम का सेतु द्वारा समुद्र-बंधन ऐसा ही असाध्य साधन है। त्रिविक्रम विष्णु ने यह पराक्रम किया था 'यज्ञभूमि' (स्वराज्य) के विस्तार के लिए। और उन्होंने इस प्रकार कीर्ति रूपी 'अमृत' का आहरण करके अदिति को गौरवशाली बनाया। सुपर्ण ने माँ के उद्धार के लिए अमृत का आहरण किया था। यह एक अद्भुत पराक्रम था। महाभारत में वर्णित सुपर्ण का पार्थिव मंडल के ऊपर स्थित अंतरिक्षमण्डल का संतरण हनुमान के सुंदरकांड के समुद्र-संतरण के समानांतर है। सीता-अन्वेषण और अमृतकुम्भ अन्वेषण समान परिस्थितियाँ रचते हैं। अवश्य ही प्रतिपक्ष एक में स्पष्ट है। गरुड़ की माता कौशल्या की ही तरह यात्रा के आरंभ में स्वस्तिवाचन करती है :

'प्रीता परम दु:खार्त्ता नागैर्विप्रकृता सती
पक्षौते मारुत: पातु चंद्रसूर्यौ च पृष्ठत:
शिरश्च पातु वह्निस्ते वसव: सर्वतस्तनुम्
अहं च ते सदा पुत्र शांति स्वस्ति परायणा
इहासीना भविष्यानि स्वस्तिकारे रता सदा
अरिष्टं व्रज पंथानं पुत्र कार्यार्थ सिद्धये।'

—महाभारत (१/२७/१४-१६)

गरुड़ की आकाश यात्रा, अपने चंगुल में कछुए और हाथी को लेकर उड़ना, पिता कश्यप के आदेश से 'नि:पुरुष शैल' पर यात्रा के मध्य, अवतरण, शैल का पटकर विदीर्ण होना, वृक्षों का गिरना इंद्र के वज्र का इस धक्के के तरंगाघात से जल उठना, देवताओं के विश्वव्यापी अस्त्रशास्त्रों का परस्पर टकराने लगना, प्रलय जैसा दृश्य; तत्पश्चात् अमृत दुर्ग में अतिलघु रूप ('अंगुष्ठकाय' बनकर प्रवेश करना आदि कर्म, सुंदरकांड के प्रारंभ में वर्णित अनेक घटनाओं के समानांतर हैं। सुपर्ण कद्रू को बुद्धि द्वारा छानते हैं तो हनुमान सुरसा को। सुरसा भी सर्प-माता ही है। सुपर्ण विष्णु के वाहन है और विष्णु के बृहद्साम के भी। उसी भाँति हनुमान अप्रत्यक्षत: राम वाहन है और रामकथा के भी वाहन हैं। सुपर्ण का बिम्ब मूल रूप से सविता शक्ति से जुड़ा हुआ है। भारतेतर सूर्योपासना में भी सुपर्ण एक सूर्यपक्षी है इजिप्ट और बेबीलोन में। हनुमान 'वृषाकपि' हैं। सूर्य, विष्णु और रुद्र के लिए भी वृषाकपि शब्द आता है। सुपर्ण और हनुमान के बीच बिम्बगत और कथात्मक समानताएँ स्पष्ट हैं। सूर्य, वस्तुत: सुपर्ण के पौराणिक मिथ (जो महाभारत में प्राप्त है) के अतिरिक्त ऋग्वेद के दशममण्डल के मंत्रों में भी सुपर्ण या गुरुत्मन के बिम्ब को सोम या अमृत के आहरण से जोड़ा गया है। 'गरुड़ी' का रूप धारण करके सोम लाती है। 'इस सुपर्ण ने व्योम से सोम का आहरण किया और देवताओं को दिया।' (ऋ. वे. १०/..........)। यहाँ सुपर्ण सूर्य (सविता) का प्रतीक है जो 'वारुणमंडल' के 'सोम' (मधु' को अंतरिक्ष मंडल (देवमण्डल) को देता है चंद्रकिरणों के माध्यम से। सुपर्ण के द्वारा सोम या अमृत का आहरण कर बिम्ब महाभारत की कद्रूविनता मिथ के बाहर भी वैदिक कथाशास्त्र (मॉयथोलोजी) में प्रयुक्त हुआ है। यह एक बहुरूपी और बहुअर्थवाला बिम्ब था। इस बिम्ब का प्रयोग वाल्मीकि ने यहाँ पर अपनी कथा की मूल रूढ़ि 'सीता (स्वराज्य, अमृत कीर्ति) का अवरोध से उद्धार' की मानसिक प्रस्तुति और दिशा-संकेत के लिए किया है। वस्तुत: रामकथा उस 'रिक्थ' से जन्म लेती है जिसका आदिम मूल आर्यों की जातीय 'जनसंस्कृति' या 'लोकसंस्कृति' में है और विकसित रूप है संहिता के मंत्रों और ब्राह्मणग्रंथों की संक्षिप्तकाय गाथाओं में। यह 'रिक्थ' अर्थात् परंपरा द्वारा प्राप्त ऋद्धि' का अनुदान है। यह 'रिक्थ' सतही स्तर पर वहीं है जिसे आज की शब्दावली में 'लोकसाहित्य' (फोकलव) कहा जाता है। परंतु, जैसाकि आनन्द के. कुमारस्वामी ने स्पष्ट किया है कि इस (रिक्थ) के लिए जो परमा स्मृति' (रिसीअल मेमोरी) की अभिव्यक्ति है 'लोकसाहित्य' एक हीन और क्षुद्र

शब्द है। लोकसाहित्य' आज के जनतांत्रिक युग में कल्पना-प्रसूत कथा कहानियों गीतों के लिए आता है जो निर्वैयक्तिक रूप में जनकवियों या लोककवियों-कथाकारों द्वारा रचा जाता है। इसका उद्देश्य मात्र मनोरंजन होता है और कथा-रस से आगे, आत्मिक और मानसिक ऋद्धियों के संचयन एवं अंतर्वहन से इसका कोई खास सरोकार नहीं। परंतु 'रिक्थ' का अर्थ ही है 'परंपरा प्राप्त मानसिक और आत्मिक ऋद्धि', जिसमें 'प्रज्ञा' और 'प्रतिभा' का समान सहयोग और निर्वहन होता है। इसके लिए 'लोकसाहित्य' शब्द छोटा पड़ जाता है। इसके लिए वस्तुत: सही शब्द है 'ऋति' और यह अपौरुषय परमास्मृति अवदान है। रामकथा श्रुति के 'रिक्थ' का अवदान है अत: श्रुति के विकसित रूप मंत्र साहित्य और ब्राह्मण साहित्य के भाव बिम्ब, तथा 'कथा प्रारूप' इसमें अपने आप बिना किसी प्रयत्न के उतरते गये हैं। रामकथा में वैदिक आर्य के उत्तराधिकारी नव्य आर्य की जातीय परमा स्मृति बोलती है। कौशल्या के आशीर्वाद के ये पाँच श्लोक वही संकेत देते हैं।

कौशल्या अपने पुत्र को केवल सौत का पराभव और राज्य की पुर्नप्राप्ति के लिए ही आशीर्वाद नही देती है। इन वैदिक गाथाओं का संकेत है कि वे पुत्र को वृहत्तर विजय और वृहत्तर उपलब्धियों का आशीर्वाद देती है, 'हे पुत्र, इंद्र की तरह, त्रिविक्रम की तरह और सुपर्ण की तरह स्वराज्य, कीर्ति और अमृत लेकर घर लौटना। तुम इंद्र की तरह प्रतिपक्ष का हनन करके स्वराज्य और अमृत को जीतो। तुम त्रिविक्रम विष्णु की तरह अपने यश-पुरुष का त्रिलोक व्यापी विस्तार करो। तुम सुपर्ण की तरह असाध्य-साधन करके घर लौटो।' यह आशीर्वाद के साथ-साथ संकेत-भाषा में एक परम आह्वान है। जिस तरह एक क्षुद्र शंख के भीतर संपूर्ण समुद्र के कंठ का वज्रोपम आह्वान छिपा रहता है वैसे ही आशीर्वाद के इन अंतिम पाँच श्लोकों में संपूर्ण महाकाव्य का उदात्त आह्वान छिपा हुआ है। कौशल्या प्रकारांतर से राम से कहती है, 'प्रिय पुत्र, जब जाना ही चाहते हो तो जाओ। परंतु इंद्र की तरह लौटना, विष्णु की तरह लौटना, सुपर्ण की तरह लौटना, असाध्य साधन करके स्वराज्य, कीर्ति और अमृत लेकर ही घर लौटना। मैं इसीलिए तुम्हारी प्रतीक्षा करती रहूँगी।'

महाकाव्य की 'काठी' (देह यष्टि) कालजयी होती है। मूलत: दो कारणों से। प्रथम तो यह कि यह 'समूह मन' की आकांक्षा को 'बिम्बित' और 'अनुप्रेरित' दोनों करता है। महाकाव्य समूह मन की आकांक्षाओं का बिम्ब होता है तो उपन्यास समूह मन के अवदमनों का। उपन्यास की भूमि वास्तविक जीवन से जुड़ी होती है और यथार्थ जगत में आकांक्षाओं का अवदमन ही अधिक व्यापक अनुभव है। महाकाव्य की भूमि परावास्तव का कालमुक्त 'वास्तव' की भूमि है। इसमें समूहमन की आकांक्षाएँ एवं समूहमन की सिसृक्षात्मक दिशाएँ व्यक्त होती है। विषय वस्तु की 'काठी' (देह यष्टि) दीर्घकालीन और शाश्वत होने के कारण महाकाव्य की देह यष्टि भी दीर्घजीवी होती है, कालप्रवाह में जल्दी गलती पचती नहीं, 'हीर' ज्यों का त्यों सुरक्षित रह जाता है। भारतीय महाकाव्यों का वस्तुतत्व समूहमन की जिस आकांक्षा को सर्वाधिक व्यक्त करता है वह एक शब्द 'अमृत' द्वारा दर्शाया जा सकता है। भारतीय जाति की सर्वोच्च लालसा या आकांक्षा 'अमृत' के बिम्ब से जुड़ी है। अमृत का पार्थिव रूपांतर अपने मूल में 'सोम' था। सोमपान द्वारा देवोपम मनोभूमि के आहरण का अनुभव भारतीय आर्यों को अमृत की कल्पना का दान करता है। इसके बाद इसके अनेक उपअर्थो का विस्तार हुआ : यथा, मधु, जल, दुग्ध, सोम अथवा तेज-मधु, प्राणमधु, जीवनी शक्ति, संजीवन रस, अथवा आनंद, सुख, भूमा, श्री, देवत्व, और विद्या। अमरत्व का अर्थ भी आर्य दो तरह से लगाते हैं। (१) असुर दृष्टि से देह की मृत्यु को अवरुद्ध कर देना ही अमृतत्व या अमरत्व है। परंतु यह तो सीधे-सीधे 'ऋत' - चक्र में दखलन्दाजी हुई। (२) वस्तुत: इसका अर्थ है 'देवोपम' हो जाना, अपनी मानसिक और आत्मिक ऋद्धियों को इतना विकसित कर देना के मानवीय कषाय या अवदमन कोई पीड़ा न दे सकें। भारतीय दृष्टि की विकसित

अवस्था में माना गया कि मरण तो ध्रुव है प्रत्येक जीव के लिए। देवताओं और इन्द्र की भी मृत्यु होती है। अनन्तकाल प्रवाह में सहस्रों-सहस्रों इन्द्रों की पाँत चींटियों की तरह उतरती है और विलीन हो जाती है। ब्रह्मा विष्णु शिव का तिरोधान हो जाता है। फर्क यही है कि कीट-पतंग से दीर्घजीवी है वनस्पति और वनस्पति से दीर्घजीवी है मनुष्य। मनुष्य की तुलना में इन्द्रादि देवगण विराट दीर्घजीवन जीते हैं। परंतु अंत उनका भी होता है। वस्तुतः 'मृत्युहीनता' के चरम अर्थ में एक ही 'अमृत' है। वह है परमात्मा स्वयं। 'अमृत' की आदिम धारणा। 'मृत्युहीनता' तो असुरों की देहवादी दृष्टि का प्रतिफलन है। बाद में इस धारणा का संशोधन करके अमृत के उपअर्थों का विकास हुआ। अमृत का अर्थ स्थूल (सोम, दूध, मधु) से विकसित होता हुआ सूक्ष्मतर रूपों में प्रतिष्ठित हुआ देवोपम मानसिकता, ब्रह्म-विहार (मुदिता मैत्री करुणा-उपेक्षा युक्त दिव्य मनोदशा), आनन्द, सुख, श्रिया के साथ-साथ श्री, कीर्ति भूमा आदि। बड़ी विचित्र बात है कि अन्य जातियों ने 'मृत्यु' पर चिंतन किया तो भारतीयों ने मृत्युबोध पर विजय के लिए 'अमृत' पर मृत्यु के चिंतन द्वारा अन्य जातियों ने जीवन में 'ट्रेजडी' की विडम्बना का आविष्कार किया, तो भारतीयों ने अमृत-चिंता द्वारा जीवन में 'रस' का, सद्-चित्-आनन्द बोध का और दिव्यता का आविष्कार किया। यह कोई मामूली प्रभेद नहीं। भारतीय आकांक्षा के इसी केंद्रीय बिम्ब 'अमृत' का उल्लेख कौशल्या अपने आशीर्वाद में करती हैं और रामकथा में 'अमृत' के अनेक उपअर्थों का सगुण अस्तित्व इसके पात्रों के जाति के समूहमन की केंद्रीय आकांक्षाओं से जुड़ा है और इसकी 'काठी' (देह यष्टि) बड़ी दीर्घजीवी साबित हुई है।

दूसरा कारण यह है कि महाकाव्य की काठी का 'हीर' (हृदय) संकल्प प्रधान होता है। 'हीर' (भोजपुरी) काष्ठ खण्ड के केंद्रीय भाग को कहते हैं। हवा पानी के असर से परिधि के भाग भले ही गल जायें पर 'हीर' जल्दी गलता नहीं है। महाकाव्य का 'हीर' सकल्प प्रधान होता है। संकल्प (विल) और इच्छा (डिजाअर) में भेद होता है। काव्य की अन्य विधाओं में 'भाव' या 'इच्छाशक्ति' की रूमानी तरलता मुख्य होती है, परंतु महाकाव्य में संकल्प का ही प्राधान्य होता है। संकल्प ही चरित्रों को ठोसपन तथा कथा के आकार को सुदृढ़ता देता है। संकल्प का काठिन्य चाहे वह सद्-संकल्प हो या दुष्ट संकल्प रामायण के पात्रों में कूटकूट कर भरा है। संकल्प की यह दृढ़ता राम के चरित्र में अनोखी है। राम का संकल्प 'अमृत' से जुड़ा है। अमृत-तत्व के सारे उपअर्थ राम के संकल्प में अभिव्यक्ति पाते हैं। दुष्ट संकल्प वारुणी है। वह आसुरी आकांक्षा से जुड़ी है। परंतु सद् संकल्प अमृत है और इससे जीवन में दिव्यता का प्रवेश होता है। राम संकल्प-सिद्धि के पथ पर दिव्यतर होते-होते देवोपम बन जाते हैं और अंत में विष्णु-रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। माँ की यह आकांक्षा कि 'प्रिय पुत्र अमृत-जयी बनो' महाकाव्य के उपसंहार में राम को विष्णु रूप में प्रतिष्ठित पाकर पूर्णतोष को प्राप्त करती है। संकल्प-प्रधान चरित्र होने के कारण ही रामचंद्र जातीय जीवन क्या, सार्वभौम मनुष्य जीवन के लिए प्रेरणास्रोत बन जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि रामायण समूहमन की चरम आकांक्षा 'अमृत' की 'संकल्प प्रधान' अभिव्यक्ति है। कौशल्या के आशीर्वाद में 'अमृत आहरण' और 'अमृत विजय' के बिम्बों का स्मरण इस तथ्य का संकेत भी देता है। संकल्प प्रधान होने के कारण ही रामायण के पात्र जातीय उत्प्रेरणा एवं संवेग के स्रोत आज तक बने हुए हैं।

□

आधुनिक रामकाव्यों में सौंदर्य-बोध

डॉ. नीलम गुप्त

'सौंदर्य' मानव-मन की एक ऐसी असाधारण वृत्ति है जो उससे अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई है। सौंदर्य के प्रति आकर्षित होना मनुष्य की स्वभावगत विशेषता है, भले ही वह सौंदर्य आत्मा का हो या वस्तु का। 'सौंदर्य' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'सुंदर' शब्द से भाव अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय जुड़कर हुई है और 'सुंदर' शब्द, जिसकी उत्पत्ति स्वयं संदेहास्पद है, 'सु' उपसर्ग 'उन्द' धातु से 'अरन' प्रत्यय जुड़कर बना है, जिसका शब्दार्थ है— अच्छी प्रकार आर्द्र या सिक्त करने वाला।

भारतीय वाङ्मय में यद्यपि 'सौंदर्य' शब्द का प्रयोग अधिक प्राचीन नहीं है तथापि ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन साहित्य में सौंदर्य के व्यंजक शब्दों तथा उक्तियों का अभाव है। वेद उपनिषद, रामायण, महाभारत आदि में 'सुंदर' और 'सौंदर्य' शब्द के अनेक पर्यायों का प्रयोग हुआ है, यथा—रूप, चारु, रुचिर, रमणीय, सौम्य, शोभन, मनोहर, मनोज्ञ, मनोरम, मधुर, पेशल, कांत, लावण्यवान, युतिवान, अभिराम, प्रियदर्शन आदि। अभिजात संस्कृत-साहित्य में तो सौंदर्य का बड़ा ही सशक्त और मुक्त प्रयोग हुआ है।

वस्तुतः 'सौंदर्य' शब्द एक बहुत-ही व्यापक अर्थ वाला शब्द है। विभिन्न भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने 'सौंदर्य' शब्द की जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह इस शब्द के व्यापक अर्थ-धारण का ही परिणाम है। भारतीय चिंतन में सत्य और शिव के साथ सुंदर की कल्पना की गई है अर्थात् सुंदर वही है जो कल्याणकारी है और सत्य-स्वरूप है। इसीलिए वेद, उपनिषद आदि में ईश्वर के स्वरूप को ही विश्व-सौंदर्य का प्रतीक एवं मूल उद्गम माना गया है। भारतीय मनीषियों ने सौंदर्य को प्रमुखतः मन के भीतर की वस्तु माना है जिसे प्रसाद ने 'उज्ज्वल वरदान चेतना का सौंदर्य जिसे सब कहते हैं' कहकर परिभाषित किया है। पाश्चात्य विचारक प्लेटो ने भी शरीर-सौंदर्य के ऊपर चेतना के सौंदर्य को स्वीकार करते हुए प्रज्ञात्मक सौंदर्य को प्रकाश रूप माना है जो वस्तुतः आत्म चैतन्य का ही प्रतीक है। प्लेटो के अतिरिक्त प्लोटिनस, ऑगस्टीन तथा एक्विनस और आधुनिक विचारक हीगल एवं कांट आदि ने भी सौंदर्य की भावना को मूलतः आध्यात्मिक अनुभूति ही माना है।

विचारकों का एक दूसरा वर्ग भी है जो 'सौंदर्य' को केवल मन के भीतर की या आत्मा की वस्तु नहीं मानता अपितु उसे गोचर और ऐंद्रिय कहकर उसकी रूपगत अथवा वस्तुगत सत्ता को ही स्वीकार करता है। उन विचारकों की मान्यता है कि सौंदर्य की सत्ता वस्तु की संरचना में ही है भाव तथा विचार से उसका कोई संबंध नहीं है।

वास्तव में 'सौंदर्य' साधना की वस्तु है और सौंदर्य-साधना को किसी भी दृष्टि से एकपक्षीय

नहीं कहा जा सकता। यद्यपि बाह्य सौंदर्य (शारीरिक अथवा भौतिक) और आंतरिक सौंदर्य (आत्मिक) दोनों की अपनी स्वतंत्र सत्ता है तथापि दोनों एक दूसरे के परिपूरक भी हैं। इस संबंध में डॉ. त्रिगुणायन का कथन द्रष्टव्य है— 'आनन्दमय अभिव्यक्ति एकपक्षीय नहीं होती, उसमें बाह्य सौंदर्य के साथ-साथ आंतरिक सौंदर्य भी निहित रहता है। कला का लक्ष्य इन्ही बाह्य और आंतरिक सौंदर्य को अधिक-से-अधिक सजीव रूप में व्यक्त करना होता है।'

सौंदर्य का बाह्य पक्ष सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता से संबंधित होता है। सौंदर्य की वस्तुगत सत्ता का अर्थ है— 'सौंदर्य नाम के गुण का वस्तु से अलग करके न देखना।' काव्य में वस्तुपरक सौंदर्य का चित्रण प्रभावी वातावरण की निर्मिति, भावोत्कर्ष की योजना और संस्कृति के ज्ञान आदि के लिए किया जाता है। इसके अतिरिक्त वस्तु-निरूपण काव्य में सजीवता, चित्रात्मकता और दृश्यात्मकता का विधान करता है। इसीलिए वस्तुपरक सौंदर्य का चित्रण काव्य में अनिवार्य-सा माना गया है। वस्तुपरक सौंदर्य-विधान एक ऐसी कला है जिसमें कवि का सूक्ष्म निरीक्षण का गुण प्रकट होता है। संपूर्ण भारतीय वाङ्मय में वस्तुपरक सौंदर्य-विधान दर्शनीय है। आधुनिक युग विज्ञान प्रधान होने के कारण उसकी दृष्टि वस्तुपरक अधिक है और इसी कारण आधुनिक युगीन रामकाव्यों में वस्तुपरक सौंदर्य का चित्रण अधिक मुक्त रूप से और सशक्तता के साथ हुआ है। वस्तुपरक सौंदर्य का विस्तार प्रमुख रूप से मानवीय-सौंदर्य, प्राकृतिक-सौंदर्य और स्थानों आदि के सौंदर्य में देखा जा सकता है।

मानवीय-सौंदर्य के अंतर्गत प्रमुखतः स्त्री एवं पुरुष के शारीरिक-सौंदर्य का चित्रण ही साहित्य में मिलता है। आधुनिक युग के रामकाव्यों में स्त्री और पुरुष के शारीरिक-सौंदर्य के जो चित्र कवियों ने प्रस्तुत किए हैं, वे परंपरागत होते हुए भी नई दृष्टि से युक्त हैं।

आदिकाल से लेकर आज तक के साहित्य में नारी-सौंदर्य के चित्रण को प्रधानता मिली है। रीतिकालीन साहित्य में इसका उत्कर्ष देखने को मिलता है। आधुनिक युग के साहित्य में भी नारी-सौंदर्य के चित्रण को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है किंतु रीतिकालीन सौंदर्य-चित्रण से इसका स्वरूप भिन्न है। आधुनिक काल में नारी को जो प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त हुआ है, इसके कारण उसके नख-शिख वर्णन, रूप वर्णन में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है।

द्विवेदीयुगीन रामकाव्यों में नारी-सौंदर्य के लिए यद्यपि कवियों ने परंपरागत उपमानों का ही प्रयोग किया है तथापि वह रीतिकालीन चित्रण से बहुत कुछ भिन्न है, क्योंकि द्विवेदीयुगीन कवियों ने नारी को जो प्रतिष्ठा प्रदान की है, वह रीतिकाल में नहीं थी। 'साकेत' गुप्तजी का महाकाव्य है जिसमें गुप्तजी ने रामकथा को अपनी नवीन दृष्टि से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। रामकथा की प्रमुख नारी पात्र और भारतीय नारी का आदर्श 'सीता' का 'साकेत' में कवि ने जो सौंदर्य-चित्र प्रस्तुत किया है वह सीता की गरिमा को और ऊँचा उठा देता है—

> 'अंचल पट कटि में खोंस कछोटा मारे,
> सीता माता थीं आज नई छवि धारे।
> अंकुर हितकर ये कलश पयोधर पावन,
> जन-मातृ-गर्वमय कुशल वदन भव-भावन।.........
> मुख धर्म-बिंदु-मय ओस-भरा अम्बुज-सा
> पर कहाँ कण्टकित नाल सुपुलकित भुज-सा।'

यहाँ कवि ने सीता के आंगिक-सौंदर्य का चित्र यद्यपि परंपरित उपमानों के द्वारा ही खींचा है तथापि नारी की गरिमामयी मूर्ति को उन्होंने कहीं धूमिल नहीं होने दिया है। 'साकेत' में सीता के अतिरिक्त

उर्मिला, माण्डवी, कौशल्या, कैकेयी आदि के भी अनेक सौंदर्य-चित्र कवि ने प्रस्तुत किए हैं किंतु उर्मिला के मनमोहक सौंदर्य चित्र कवि की सूक्ष्म सौंदर्य-दृष्टि के परिचायक हैं—

'अरुण-पट पहने हुए आह्लाद में,
कौन यह बाला खड़ी प्रासाद में?
प्रकट-मूर्तिमती उषा ही तो नहीं?
कांति की किरणें उजेला कर रहीं।
यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई..........
कनक-लतिका भी कमल-सी कोमला......
शील सौरभ की तरंगे आ रहीं,
दिव्य भाव भवाब्धि में हैं ला रही।'

उषा के समान मधुमयी किरणें फैलाने वाला और शीलयुक्त सौंदर्य नारी की अप्रतिम विशेषता है। इसीलिए यह सौंदर्य वर्णन प्रभावात्मकता उत्पन्न करता है।

स्त्री के स्थूल सौंदर्य के अंतर्गत उसके अंगों और वेशभूषा का वर्णन प्रमुख रूप से होता है। अंगों के वर्णन में उनकी सुडौलता, स्निग्धता, पुष्टता, सुकुमारता, गठन आदि का वर्णन होता है। कवि विभिन्न उपमानों के माध्यम से आंगिक-सौंदर्य के चित्र खींचता है—

लता पल्लव-पुष्पों के साथ, निरख कर हाथ, मले निजहाथ
और मुख? उसके सम हो कौन, सुधाकर इसीलिए है मौन
तुम्हारा लखकर केशकलाप, अचल उर पर लोटेंगे साँप
तुम्हारा सुनकर मधुरालाप, कोकिलाएँ जायेंगी काँप।।

यहाँ डॉ. बलदेव प्रसाद मिश्र ने माण्डवी के शारीरिक सौंदर्य को चित्रित करने के लिए प्राकृतिक उपकरणों का प्रयोग किया है। स्थूल रूप-सौंदर्य के वर्णन में भी कवि का अनुभूति गांभीर्य ही मुख्य है।

नारी के बाह्य सौंदर्य के प्रसंग में शोभा, काँति, दीप्ति, माधुर्य, औदार्य, तेज आदि की भी चर्चा की जाती है। रामकथा के समस्त नारी पात्र अपनी अद्भुत काँति और शोभा के सम्मुख समस्त विश्व को नत करते प्रतीत होते हैं। आधुनिक कवियों ने भी अपने रामकाव्यों में नारी पात्रों के इस रूप सौंदर्य को व्यापकता के साथ चित्रित किया है। 'कल्याणी कैकेयी' की कैकेयी के तेज, शौर्य, सौम्यता, सहजता, कांति और गरिमा आदि गुणों ने उसके स्थूल सौंदर्य को द्विगुणित कर दिया है—

ज्योतिपुंज कंजारुण जिसके नेत्र सदा खिलते आनन।
शौर्य्य दीप्त रहता था जिसमें क्षत्राणी के विभु कानन।।
क्षात्र तेज का सत्स्वरूप था मुख पर थी अद्भुत विक्रांति।
नेत्र न टिक पाते थे जिस पर गरिमायुत थी जिसकी कांति।।

'ज्योति' सौंदर्य को द्विगुणित और आभायुक्त करने वाला अलौकिक गुण है। सीता के प्रति प्रथम दर्शन में राम की आसक्ति, सीता के इसी ज्योति स्वरूप अलौकिक सौंदर्य के कारण ही हुई होगी। 'राम की शक्तिपूजा' में निराला ने, सीता को स्वर्ग का ज्योतिः प्रपात कहकर, सीता के सौंदर्य की दिव्यता को प्रकट किया है—

ज्योतिः प्रपात स्वर्गीय-ज्ञात छवि प्रथम स्वीय,
जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।

चरित्र की उदात्तता और पवित्रता नारी-सौंदर्य का आभूषण है। सीता के इसी चारित्रिक सौंदर्य के कारण उन्हें जो मान और प्रतिष्ठा मिली है, आधुनिक कवि भी उसके समक्ष नत हुए बिना नहीं रह सकता है। सीता के पवित्र आलोक के सौंदर्य से सारी धरा आलोकित है— 'वैदेही-वनवास' में कवि ने ऐसा ही विचार व्यक्त किया है—

आज भी अमित नयनों की वह दीप्ति है।
आज भी अमित हृदयों की वह शांति है।।
आज भी कलित उसकी कीर्ति कलाप से।
मंजुल-मुखरित उसका अनुपम ओक है।।
आज भी परमपूता भारत की धरा।
आलोकित है उसके शुचि आलोक से।।

त्याग, धैर्य, बलिदान, सहिष्णुता आदि गुण नारी के रूपगत सौंदर्य को नहीं, बल्कि उसके चारित्रिक सौंदर्य को व्यक्त करने वाले गुण हैं। लक्ष्मण की प्रियतमा उर्मिला में गंभीरता, त्याग, साहस, धैर्य, कर्त्तव्यनिष्ठा, सहिष्णुता आदि गुणों का दर्शन कराके आधुनिक कवियों ने उसकी महानता के सम्मुख सीता को भी नत कर दिया है— 'मैं लज्जा से गड़ जाती हूँ, देख तुम्हारा यह बलिदान।'

'नारी का समस्त सौंदर्य उसके ममतामयी रूप में सिमटा है'— आधुनिक कवियों ने कौशल्या के माध्यम से उस बात को स्वीकारा है। आधुनिक रामकाव्यों में कौशल्या का समस्त सौंदर्य इसी रूप में बिखरा है—

पवित्रता में पगी हुई, देवार्चन में लगी हुई,
मूर्तिमयी ममता माया, कौशल्या कोमल काया।

'शबरी' काव्य में आधुनिक कवि नरेश मेहता ने शबरी का जो सौंदर्यांकन किया है, यद्यपि वह परंपरा से हटकर बौद्धिक हो गया है तथापि नवीन उपमानों के माध्यम से खींचा गया शबरी का रूप सौंदर्य-चित्र कवि के सूक्ष्म सौंदर्य-बोध को भी दर्शाता है—

थी श्वेत-वसन में जैसे/कोई अकलंक तपस्या।
उन दूज-चंद्र नैनों में कितनी अगाध करुणा थी,
चल रही धरा पर ऐसे/जैसे नभ की अरुणा थी/
यदि दिवस तेज था उसमें/रातों सी नीरवता थी,
यदि कोलाहल लगती थी/तो भी मृदु कलरवता थी/

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रयुक्त शब्द-अकलंक तपस्या, दूज चंद्र नेत्र, अगाध करुणा, नभ की अरुणा, दिवस-तेज, मृदु कलरवता आदि सौंदर्य के पर्याय रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं।

आधुनिक कवियों ने अपने रामकाव्यों में रामकथा के नारी पात्रों का सौंदर्यांकन करते हुए उनकी गरिमा को पूर्ववत बनाए रखा है। नारी के स्थूल रूप सौंदर्यांकन में भी उनकी दृष्टि आंतरिक सौंदर्य की भावना से सजीव व पुलकित है।

साहित्य में नारी-सौंदर्य का चित्रण ही विस्तार से मिलता है, किंतु पुरुष-सौंदर्य भी उपेक्षणीय नहीं रहा है। वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, सूर जैसे महाकवियों ने पुरुष-सौंदर्य का चित्रण पूर्ण मनोयोग के साथ किया है।

आधुनिक रामकाव्यों में नारी-सौंदर्य के चित्रण के साथ-साथ पुरुष-सौंदर्य का चित्रण भी मुक्त रूप से हुआ है। कवियों ने पुरुषों के बाह्य व आंतरिक दोनों ही रूपों पर दृष्टि डाली है। राम का

सौंदर्य तो विश्व-विश्रुत है। आदि कवि वाल्मीकि से लेकर आधुनिक युग तक के कवियों ने राम के शील, शक्ति और सौंदर्य के जो चित्र प्रस्तुत किये हैं, वे अनुपम हैं। द्विवेदीयुगीन कवियों से लेकर नई कविता तक के सभी कवियों ने राम के मर्यादापुरुषोत्तम और ओजस्वी स्वरूप का मुक्त कंठ से गान किया है। राम, भरत, लक्ष्मण, दशरथ, विश्वामित्र, वशिष्ठ आदि पुरुष पात्रों के संदर्भ में सुरूप, तेजस्वी व्यक्तित्व, विशाल नेत्र, पुष्ट स्कंध, दीर्घ बाहु, अंग-संगति और रूप-सौंदर्य-तत्त्वों का स्तवन आधुनिक रामकाव्यों में भी विस्तार से हुआ है।

'वैदेही-वनवास' में राम के बलिष्ठ शारीरिक सौंदर्य का चित्रण उल्लेखनीय है—

एक रहे उन्नत ललाट पर विधु-वदन
नव-नीरद श्यामावदत नीरज-नयन
पीन-वक्ष आजानुबाहु मांसल वपषु
धीर वीर अति सौम्य सर्व गौरव-सदन।

पुरुष का सौंदर्य उसके रूपाकर्षण में नहीं, बल्कि उसके पौरुष में है। केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' के राम का पौरुष संपूर्ण संसार के मंगलमय में आलोक फैलाने वाला है—

वह राम कि जिसके पौरुष की खर ज्वाला,
निकली किशोर वपु से ज्यों रवि-कर-माला।
वह राम कि जिसने युग के मंगलमय में,
आलोक शुभकर फैलाया अग-जग में।

राम के लिए सीता का यह कथन— 'मैंने किसी/सामान्य राजकुमार के नहीं/वरन्/एक यज्ञ पुरुष के दर्शन किये हैं/क्योंकि उस व्यक्तित्व की गंध में/फूलों की कमनीयता तथा/मंत्रों की पवित्रता थी' राम के चारित्रिक सौंदर्य को व्यक्त करता है/'कमनीयता' और 'पवित्रता' सौंदर्य के ऐसे पर्याय हैं जो उसे दिव्यता प्रदान करते हैं। 'प्रवाद-पर्व' में चित्रित राम का उपर्युक्त वर्णित सौंदर्य-चित्र वाल्मीकि के राम के रूप से कहीं कम नहीं ठहरता।

सौंदर्य में भरत भी राम से कम नहीं हैं। राम जैसा शील, राम जैसा सौंदर्य भरत की विशेषता है। भरत के उदात्त सौंदर्य का वर्णन 'साकेत-संत' की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

हृदय यह जैसा शिव-अधिवास, कहाँ होगा वैसा कैलाश,
फले फैलें यह बाहु-विशाल, करेंगे क्या कमाल वे शाल,
तुम्हारे मुख पर जो गुरु भाव, कहाँ हिमगिरी में जमा जमाव,
तुम्हारे नयनों में जो ओज, व्यर्थ रतनों में उसकी खोज।

यहाँ कवि ने भरत के सौंदर्य में हिमालय की गुरुता को मूर्तिमान करके उसे उदात्त बना दिया है। पुरुष के बाह्य रूप सौंदर्य का उतना महत्व नहीं है, जितना उसके कर्म-सौंदर्य का। पुरुष का कर्म-सौंदर्य साहित्य में प्रायः रणक्षेत्र के बीच-ही जाकर दिखाया गया है। युद्ध क्षेत्र में लक्ष्मण की वीरता का सौंदर्य संपूर्ण भूतल को कंपित कर देने वाला है। 'वैदेही-वनवास' में लक्ष्मण का वीरत्व पूर्ण भाव सौंदर्य चित्र दर्शनीय है—

सुनकर धनु टंकार मेदिनी थर्राती थी,
दिग्दंती की द्विगुण दलक उठती छाती थी।
प्रलय-वह्नि थी दहकती त्रिपुरारी थे कोपते,
जिस काल वीर सौमित्र थे समर भूमि पग रोपते।

बाह्य वीरता से भी बढ़कर जीवन में आंतरिक वीरता का महत्व है। आत्मजयी वीरों का सौंदर्य कहीं अधिक प्रभावशाली और मुग्ध करने वाला होता है। निराला ने रामभक्त हनुमान के इसी ओजस्वी सौंदर्य का वर्णन किया है। अपने स्वामी की आँखों से गिरी अश्रु बूंद को देखते ही हनुमान उद्वेलित हो उठते हैं—

'ये अश्रु राम के' आते ही मन में विचार
उद्वेल हो उठा शक्ति-खेल-सागर अपार.....
वज्रांग तेजघन बना पवन का महाकाश
पहुँचा एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।

पुरुष का 'तेज' उसके सौंदर्य का आधार है। हनुमान के तेज और क्रोध के समक्ष शक्ति का ठहर पाना भी कठिन है, इसे शिव भली प्रकार जानते हैं। इसीलिए हनुमान को क्रोधित देखकर शिव शक्ति से कहते हैं—

सम्वरो देवि, निज तेज, नहीं वानर
यह नहीं हुआ श्रृंगार-युग्म-रत, महावीर
अर्चना राम की मूर्तिमान अक्षय शरीर.........
लीला सहचर, दिव्यभावधर, इन पर प्रहार
करने पर होगी देवि, तुम्हारी विषम हार।

इंद्रिय-संयम, अहिंसा, क्षमा, कर्त्तव्यपरायणता, बलिदान की भावना, सेवापरायणता, परदुःखकातरता आदि गुणों से पुरुषों का सौंदर्य द्विगुणित हो उठता है। आधुनिक कवियों ने अपने रामकाव्यों में लगभग सभी पुरुष पात्रों को, यथा राम, लक्ष्मण, भरत, दशरथ, वशिष्ठ, जनक, हनुमान आदि, उपर्युक्त गुणों से मण्डित करके चित्रित किया। कर्त्तव्यपरायणता के सम्मुख राज्य का त्याग राम के चरित्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है, तो बड़े भाई के अधिकार की रक्षा के लिए राज्य का त्याग भरत के चारित्रिक सौंदर्य की अनुपमता। भरत का यह कथन—'राजमुकुट राजा के रहते धारण मैं न करूँगा', उनके उदात्त चरित्र को और भी ऊँचा उठा देता है।

द्विवेदी युगीन रामकाव्य 'साकेत' से लेकर 'वैदेही-वनवास', 'राम की शक्ति पूजा', 'रामराज्य', 'साकेत-संत', 'कैकेयी', 'उर्मिला', 'संशय' की एक रात', 'प्रवाद पर्व', 'शम्बूक' आदि नयी कविता के काव्यों में नारी और पुरुष-सौंदर्य का चित्रण अपनी उदात्तता के कारण प्रशंसनीय कहा जा सकता है। आधुनिक कवियों ने रामकथा के पात्रों की गरिमा को बनाये रखने के लिये उनके बाह्य सौंदर्य के स्थान पर आत्मिक सौंदर्य के चित्र ही अधिक मनोयोग पूर्वक खींचे हैं।

मानवीय सौंदर्य के अतिरिक्त प्राकृतिक सौंदर्य की छटा भी आधुनिक रामकाव्यों में सर्वत्र बिखरी हुई है। प्रकृति का सौंदर्य कवि के भाव स्फोट का प्रबल प्रेरक होता है। यही कारण है कि प्राचीन काल से आज तक के साहित्य में साहित्यकारों की लेखनी प्रकृति-चित्रण के सौंदर्य में अपने कौशल का परिचय देती रही है। आधुनिक रामकाव्यों में प्रकृति का विविध रूपों में बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन हुआ है। प्रकृति का प्रेमसिक्त और त्यागपूर्ण रूप मन को छू लेने वाला है—

सिद्ध शिलाओं के आधार
जो गौरव-गिरि उच्च उदार
नहलाती है नभ की वृष्टि, अंग पोंछती आतप-सृष्टि
करता है शशि शीतल दृष्टि, देता है ऋतुपति श्रृंगार।

'साकेत' महाकाव्य में वर्णित कामद पर्वत का उपर्युक्त चित्र प्रकृति में मानवीय व्यापार को दर्शाता हुआ

उसके सुकुमार रूप को प्रकट करता है।

प्रकृति का सौंदर्य तो यही है कि वह जीवन के तापों का हरण करने वाली हो। उसका प्रतिक्षण परिवर्तित और नवीन रूप जीवन में भी नव्यता का संचार करता हो। उल्लास और आनंद की खान वसंत ऋतु का सौंदर्य उसकी मधुता में ही है—

सत्यत: मधुऋतु थी वह, क्योंकि हुआ था मधु संचय सब ओर
लताओं पर मधु छत्ते टंगे, उरों में था मधुता का जोर।

'संशय की एक रात' में नरेश मेहता ने भी प्रकृति के उदात्त रूप का चित्रण किया है। संशय ग्रस्त राम भाद्रपद की वर्षा को संबोधित करते हुए कहते हैं—

ओ भाद्रपदी वृष्टि/आद्यंत भीग उठने दो
संभव है तुम्हारे इन देव जलों से
यह संशयाग्नि शांत हो सके।

आधुनिक रामकाव्यों में कवियों ने प्राकृतिक चित्रों में सौंदर्य के जिन तत्वों पर बल दिया है वे हैं—दीप्ति, औज्जवल्य, निर्मलता, वैचित्र्य और नवीनता, सुकुमारता, रहस्यात्मकता आदि। 'शम्बूक' काव्य में वर्णित शीतल चाँदनी का प्रकाश मनोहारी है और उसका चाक्षुष सौंदर्य विराट है—

चाँदनी उतरी धरा पर, श्वेत रेशम पंख फैलाये,
आँख जैसा पात्र छोटा कौन कितना रूप पी जाए।

आधुनिक कवियों ने प्रकृति के विभिन्न रूप-सौंदर्य-चित्रों में किसी अदृश्य सत्ता के दर्शन किए हैं। कतार में खड़े ऊँचे-ऊँचे वृक्षों को देखकर उर्मिला को लगता है कि संभवत: ये वृक्ष कोई मौन निमंत्रण दे रहे हैं। अत: उसके मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है—

उदग्रीव हुए आतुर से तरु किसको बुला रहे ये?
कुछ मौन निमंत्रण देते, क्यों बाहें डुला रहे ये?

'उर्मिला' महाकाव्य में बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने विरह-व्यथित प्रकृति का सुंदर चित्रण किया है। प्रियतम की खोज में भटकती-रोती प्रकृति का करुण चीत्कार मन को करुणा-सिक्त कर देता है

कलियाँ रोती टहनी पे, रोते प्रसून डाली पे
पत्तियाँ बिलखती हैं ये, बेलों की प्रति जाली पे।
निशि की अपनी उजियारी, निशि की अपनी अँधियारी,
नित उसको ढूँढ़ रही है, ये दोनों बारी-बारी।

उपदेशात्मक रूप में भी प्रकृति का सौंदर्य अनुपम है। आधुनिक कवियों ने अपने रामकाव्यों में उपदेश देने के लिए प्रकृति को माध्यम बनाया है, क्योंकि संसार की सभी घटनाएँ प्राकृतिक व्यापारों से जुड़ी हैं। 'साकेत', 'वैदेही-वनवास', 'उर्मिला' आदि रामकाव्यों में उपदेशात्मक रूप में प्रकृति का सौंदर्य दर्शनीय है। 'एकता में शक्ति होती है' इस बात को गुप्त जी 'साकेत' में प्रकृति के माध्यम से बताते हैं—

बहुत तारे थे-अँधेरा कब मिटा,
सूर्य का आना हुआ जब, तब मिटा।

पं. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का उपदेशात्मक रूप में प्रकृति का सौंदर्य-चित्र उल्लेखनीय है—

जब रवि अपने प्रखर करों से ज्वाला ले आता था
झुलसाने को पृथ्वी जब वह क्रोधित हो जाता था......
तब वे सघन वृक्ष उस भू की करते ये रखवारी
ज्यों सपूत बालक करता है रक्षित निज महतारी।

कवि जब प्रकृति में मानवीयता का आरोपण करता है, तब प्रकृति जड़ नहीं रह जाती वरन् चेतना युक्त हो उठती है। चेतन प्रकृति का सौंदर्य अपनी अनुपम छटा से वातावरण को आनंददायी बना देता है। आधुनिक कवियों ने अपने रामकाव्यों में प्रकृति में मानवीय-चेतना का आरोप करके उसके रूप-सौंद.य का वर्णन किया है। 'साकेत' में रात्रि-आगमन के वर्णन को देखकर लगता है— जैसे रात्रि नहीं यामिनी रूपी नायिका ही चलकर आई है—

अरुण संध्या को आगे ठेल
देखने को कुछ नूतन खेल
सजे विधु की बंदी से भाल,
यामिनी आ पहुँची तत्काल।

आधुनिक रामकाव्यों में कवियों ने प्रकृति के केवल मधुर, कोमल और चेतनायुक्त रूपों में ही नहीं, वरन परूष और विराट दृश्यों में भी सौंदर्य का उद्घाटन किया है। 'राम की शक्तिपूजा' में हनुमान के क्रोध को अभिव्यक्ति देता हुआ प्रकृति का भयंकर ताण्डव अपने विराट रूप में चित्रित है—

शत घूर्णावर्त, तरंग-भंग उठते पहाड़
जल-राशि राशि-जल पर चढ़ता खाता पछाड़......
शत-वायु-वेगबल, डुबा अतल में देशभाव
जलराशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव।

प्रकृति का कैसा रौद्र चित्र है। प्रौढ़, पुष्ट तथा प्रवाहमयी भाषा वातावरण की उत्तेजना को व्यक्त करने में समर्थ हुई है।

प्राकृतिक-सौंदर्य चित्रण के साथ-साथ आधुनिक रामकाव्यों में स्थानों आदि के सौंदर्य का वस्तुपरक चित्रण भी सफलता पूर्वक हुआ है। नगर, आरम, वन, उपवन, प्रासाद आदि के सौंदर्य-चित्र आधुनिक रामकाव्यों में बहुलता से देखे जा सकते हैं। इन सौंदर्य-चित्रों में कवियों की सहजता और चित्रात्मकता अथवा बिंबात्मकता दर्शनीय है।

'साकेत' महाकाव्य के आरंभ में साकेत नगरी का वर्णन द्रष्टव्य है—

देख लो साकेत नगरी है यही/स्वर्ग से मिलने गगन में जा रही
केतु पर अंचल सदृश है उड़ रहे/कनक कलशों पर अमर दृग जुड़ रहे

इसी प्रकार 'उर्मिला' महाकाव्य में कवि ने जनकपुरी के सौंदर्य का विस्तार से वर्णन किया है। नवीन जी का यह वर्णन लाक्षणिक और चित्रात्मक शैली में है। जनकपुरी के प्राचीर, राजमार्ग, उद्यान, भवन, कूप आदि का क्रमिक वर्णन मन को मोहने वाला है। मुग्धानायिका के रूप में जनकपुरी का सौंदर्य अप्रतिम है—

रम्योद्यानोंमय यह पुरी शोभती यों अनूपा,
मानो कोई नवल तरुणी मोद-मुग्धा, सरुपा,
क्रीड़ोतकण्ठामय चपलता की हठीली लरी-सी,
फूलों वाली हरित लतिका से सजी वल्लरी-सी।

केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' ने भी 'कैकेयी' काव्य में अयोध्या के सौंदर्य का चित्र विस्तार से प्रस्तुत किया है। कवि के अनुसार यह अवध देश ही आर्य-सभ्यता और आर्य-धर्म की रक्षा करने वाला और उसकी गौरव गाथा है—

पुण्य नगर यह आर्य धर्म के गौरव की हुंकार लिए
आदिकाल से खड़ा अतुल यश कीर्ति अनन्त अपार लिए
आर्य सभ्यता लिखी हुई है इसकी गौरव-छाया में
चमक वज्र की तेज प्रलय का इसकी पावन काया में।

नगरों के सौंदर्य-वर्णन के साथ-साथ राजभवनों के सौंदर्य का चित्रण भी कवियों ने मनोयोगपूर्वक किया है। 'वैदेही-वनवास' में राम के राजभवन का सौंदर्य अवलोकनीय है—

अवध के राजमंदिरों मध्य एक आलय था बहु-छविधाम
खिंचे थे जिसमें ऐसे चित्र जो कहाते थे लोक-ललाम
दिव्य-तम कारु-कार्य अवलोक, अलौकिक होता था आनंद
रत्नमय पच्चीकारी देख दिव-विभा पड़ जाती थी मंद।

आश्रमों के सौंदर्य-चित्र भी कुछ रामकाव्यों में देखे जा सकते हैं। रचनाकारों ने आश्रमों को भारतीय संस्कृति के केंद्र के रूप में प्रस्तुत किया है। प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति के केंद्र ये आश्रम ही थे। 'वैदेही-वनवास' में वाल्मीकि के आश्रम का सौंदर्य-चित्र मनमोहक है—

शीतल-मंद-समीर वर-सुरभि कर वह न/शांत-तपोवन-आश्रम में था बह रहा
बहु संयत बन भर-भर पावन भाव से/प्रकृति कान में शांति बात था कह रहा
स्तोत्र-पाठ स्तवनादि/ से ध्वनित थी दिसा/सामगान से मुखरित सारा ओक था
पुण्य कीर्तनों के अपूर्व-आलाप से/पावन आश्रम बना हुआ सुरलोक था/

कथावस्तु एवं घटनाक्रम का ध्यान रखकर आधुनिक रामकाव्यों में कवियों ने सौंदर्य के वस्तुगत पक्ष को कुशलतापूर्वक अंकित किया है। यद्यपि यह सौंदर्यांकन अधिकांशतः स्थूल ही रहा है, तथापि मानवीय सौंदर्य के चित्रण में सूक्ष्म-सौंदर्य के उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं।

आधुनिक काल की परिस्थितिगत चेतना के कारण आधुनिक कवियों की दृष्टि सौंदर्य के प्रति भावपरक अधिक रही है, वस्तुपरक कम। यही कारण है कि आधुनिक राम-काव्यों में कवियों का सौंदर्य के प्रति वस्तुपरक दृष्टिकोण उतना विस्तार नहीं पा सका, जितना भावपरक दृष्टिकोण। वस्तुतः सौंदर्य की दो स्थितियाँ होती हैं—एक उसकी भौतिक सत्ता और दूसरी उसकी गोचर सत्ता। भौतिक सत्ता के अंतर्गत केवल उसका संरचनात्मक रूप ही सामने आता है जबकि गोचर सत्ता के अंतर्गत उसका रूप आता है। हमारी सौंदर्य दृष्टि निश्चय-ही हमें वस्तु के उस रूप तक ले जाती है, जहाँ हम राग तत्त्व को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। इस संदर्भ में डॉ. नगेंद्र का कथन उल्लेखनीय है—'सौंदर्य में ऐंद्रिय तत्त्व के अतिरिक्त राग और प्रज्ञा का भी समावेश रहता है। सौंदर्य का रूप निश्चय ही गोचर या ऐंद्रिय होता है, किंतु इस गोचर रूप में आकर्षण तथा मूल्य उत्पन्न करने वाले तत्त्व राग और प्रज्ञा ही हैं।'

रामकथा के आधुनिक काव्य 'साकेत', 'रामराज्य', 'साकेत-संत', 'कैकेयी', 'उर्मिला', 'एक विश्वास और', 'व्रतबद्ध', 'भरत' आदि ऐसे कवियों की कृतियाँ हैं जिनकी चिंतन दृष्टि कहीं-न-कहीं राष्ट्र से जुड़कर रामकथा के माध्यम से राष्ट्रीय मूल्यों की अभिव्यक्ति में लगी रही है और उन्होंने जो कुछ लिखा, उसका निचोड़ कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में राष्ट्र ही रहा है। ऐसी कृतियों में सौंदर्य की भाववादी दृष्टि को अधिक अभिव्यक्ति का अवकाश यद्यपि नहीं मिला है, फिर भी अनेक

स्थलों पर कवियों ने सौंदर्य की सूक्ष्म अभिव्यक्ति के द्वारा पात्रों एवं घटनाक्रमों को प्रभावपूर्ण बना दिया है।

नई कविता के कुछ प्रमुख कवियों, यथा—नरेश मेहता, भारत भूषण अग्रवाल, जगदीश गुप्त आदि ने रामकथा को लेकर जो रचनाएँ लिखी हैं, उनमें रामकथा को समग्र रूप में ग्रहण नहीं किया गया, प्रत्युत कुछ विशिष्ट प्रसंगों एवं घटनाओं का चयन कर इन कवियों ने अपने आधुनिक मानसिक चिंतन को अभिव्यक्ति दी है। इसी कारण इनके रामकाव्यों में सौंदर्य का केवल भावपक्ष ही उभर कर आया है।

डॉ. जगदीश गुप्त ने 'शम्बूक' काव्य में शम्बूक-वध के प्रसंग को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखने के कारण, उसे नवीन और विशिष्ट मानसिक भाव-भूमि में प्रस्तुत किया है। वर्ग-संघर्ष और निम्न वर्ग के प्रति कवि की विशिष्ट चिंतन-दृष्टि ने इस कृति को भाववादी सौंदर्य की कृति बना दिया है। कवि ने राम के पौरुष और उच्चवर्गीय आभिजात्य चिंतन पर प्रश्न चिन्ह लगाकर वस्तुतः एक विलक्षण सौंदर्य दृष्टि दी है—

यदि रही वध ही तुम्हारी नीति/नहीं बदली गई रघुकुल रीति
राम आगे से तुम्हारा राज्य/कवि जनों के हेतु होगा त्याज्य।

यहाँ वस्तुपरक सौंदर्य के लिए कवि को अवकाश ही नहीं मिला है।

नरेश मेहता की तीनों रामकथात्मक कृतियाँ—'संशय की एक रात', 'शबरी', 'प्रवाद-पर्व' आधुनिक भाव-बोध की विशिष्ट कृतियां हैं, जिनमें सर्वत्र भाववादी सौंदर्य का चित्रण ही प्रमुख रहा है। इन कृतियों में कवि का चिंतन व्यक्ति का अंतःस्थल भेदता चलता है—'या तो राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य स्वाधीन है/या फिर स्वाधीनता/केवल कपोल कल्पना है/और व्यक्ति, पद, मर्यादा, अधिकार/सब कुछ का त्याग कर ही/निर्भय हो सकता है।' 'संशय की एक रात' में भी कवि ने मानसिक राग और प्रज्ञा अर्थात चिंतन के द्वंद्व को ही प्रमुख रूप से अभिव्यक्ति प्रदान की है।

कविता में सौंदर्य और सत्य दोनों ही अवस्थित होते हैं। अतः सौंदर्य का केवल भावात्मक पक्ष पर्याप्त नहीं होता। यदि कविता में व्यक्त भाव या अनुभूति का आधार ऐसा व्यक्तिगत अनुभव है जो सामाजिक रूप से अनुभूत नहीं किया जा सकता, तो वह सौंदर्य सृष्टि नहीं कर सकता। सत्य के साथ शिव अर्थात कल्याण का भाव भी सौंदर्य की परिपूर्णता के लिए अनिवार्य है। निरुक्त में कल्याण को कमनीय कहा गया है। कमनीयता की अनुभूति कल्याण के उस रूप तक मनुष्य को पहुँचा सकती है जहाँ से उसे विश्व में सर्वत्र सौंदर्य ही दिखाई पड़ता है। विश्व में जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह असुंदर नहीं वरन् सुंदरता की विभिन्न स्थितियां हैं और इसीलिए सृष्टि का कण-कण सौंदर्य से जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि आधुनिक कवियों ने अपने रामकाव्यों में सौंदर्य के समस्त रूपों का अत्यंत नवीनता और आधुनिकता के साथ वर्णन किया है। इन कृतियों में मानव-सौंदर्य, प्राकृतिक-सौंदर्य के साथ-साथ आधुनिक मानसिक चिंतन का सौंदर्य अनुपमेय है।

❑

प्रकृति की गोद में शांति निकेतन

ललित शुक्ल

मधुर स्वप्न के प्रसंग में गुरुदेव रवींद्रनाथ ने अपने प्रियतम से कहा था कि वह छाया की ओट में क्यों खड़े हैं। पूजा की थाली मुसकाते फूलों से भरी है। प्रतीक्षा वेला है। इतना ही नहीं, जो आता है, अपनी-अपनी पसंद का एक-एक फूल चुन लेता है। गीतांजलि की पंक्तियों के भाव मन में गूँजते रहते थे। आप कितनी कोशिश कर लीजिए पर जिंदगी अपनी रफ्तार से ही चलती है। न चाहते हुए भी थक कर सुस्ताने लगती है। कई साल पहले सोचा था कि शांति निकेतन जाऊँगा और अतीत की स्मृति-छवियों से अपनी झोली भर लूँगा पर उस समय अपना चाहा हुआ नहीं हो पाया।

कामना कभी बूढ़ी नहीं होती। समय के साथ उसमें निरंतर निखार आता रहता है। पूर्णता के अवसर पर वह खिल पड़ती है। यदि यह कामना अकिंचन की है तो पत्रहीन पलाश के वृंतों पर झूलते टेसू-कुसुमों की भाँति और सुदर्शन लगने लगती है। कंचनजंघा एक्सप्रेस से बोलपुर स्टेशन पर उतरा तो बहुत अजनबीपन नहीं महसूस हुआ। इसलिए कि बोलपुर का कस्बाई चेहरा जाना-पहचाना लगा। छोटी-छोटी दुकानें, ऊबड़-खाबड़ पतली सड़क, फुटपाथ पर बैठे हुए साधारण लगने वाले दुकानदार और धीरे-धीरे चलने वाले मुसाफिर आभास देते रहते हैं कि यह कोई न देखा हुआ उपनगर नहीं है। उत्तर भारत के किसी भी भाग में जाइए, ऐसे कस्बे मिल ही जाते हैं। सभी की प्रकृति एक होने से लगता है आर्यों की घुमक्कड़ प्रवृत्ति का विस्तार दूर-दूर तक फैला हुआ है। जहाँ-जहाँ गये, अपनी संस्कृति और सभ्यता के मान-प्रतिमान लेते गये।

मकानों की बनावट, व्यक्तियों के चेहरे और वातावरण का रूखापन देखकर साफ झलकता है कि यह इलाका बहुत गरीब है। होगा, पर कलात्मक अभिरुचि में बहुत आगे। जहाँ ऐश्वर्य होता वहाँ कला नहीं होती। वैभव की संस्कृति ही अलग है। वहाँ जन-मानस को खुली हवा में सांस लेने का अवसर कम ही मिलता है। मैं तो कहूँगा, नहीं ही मिलता। पुरबिए रिक्शे वाले दिल्ली में भी हैं और बोलपुर में भी पर दोनों में बहुत अंतर है। स्थान-स्थान की तासीर है। दिल्ली की संस्कारहीन धरती पर वही रिक्शे वाला अकड़ कर बातें करता है जबकि शांति निकेतन में उसकी जुबान की मिठास में मिसरी घुल जाती है। जैसे जहाँ का खाद-पानी वैसे वहाँ की पौध। यहाँ रिक्शेवाला किसी महिला या लड़की को 'दीदी' कहकर संबोधित करता है। दिल्ली की 'मैडम' के लिए 'दीदी' संबोधन कदाचित अपमानजनक लगे।

स्टेशन से शांति निकेतन परिसर की दूरी ज्यादा नहीं है। पांच-दस मिनट चलने के बाद शहर पीछे छूट जाता है। वही दुबली-पतली सड़क साथ बचती है। किनारे की वृक्षावलियाँ पीछे की ओर भागी जा रही है। मुसाफिरों से उनका कोई लगाव नहीं है। क्षण भर की भेंट किस काम की। और प्यास जगाती है ऐसी भेंट। ऐसे लगाव से अलगाव ही अच्छा है।

चारों ओर निहारता हूँ। समतल भूमि पर सड़क काफी दूर तक सरकती चली गयी है। इतनी दूर कि आँखें उसे नाप नहीं पातीं। मधुमास अपनी पूरी भव्यता के साथ उतर आया है। रिक्शा धीमी गति से आगे की ओर बढ़ा जा रहा है। शांति निकेतन समीप आ गया। लताओं, फूलों एवं हरीतिमा ओढ़ी वनस्पतियों के बीच शिक्षा-सदनों की सादगी जिज्ञासा की ओर बढ़ाती है। इस केंद्रीयविश्वविद्यालय के परिसर की कोई दीवार नहीं है। अलग-अलग संकायों के भवन फूल पंक्तियों से घिरे हैं। रिक्शा छोड़ देता हूँ। गुरुदेव की विद्या-भूमि को मन ही मन अभिवादन करता हूँ। खुले आसमान के नीचे भी शिक्षा की व्यवस्था है। गोलाई आकृति में शिक्षार्थियों को बैठने के लिए पाथर की बेंच बनी है। वहीं श्यामपट्ट स्टैण्ड पर रखा है। आसपास हरियाली और फूलों की रंगीनी बड़ी भली लगती है।

कला-शिल्पी की गढ़ी हुई मूर्तियां भवनों के पास स्थापित की गयी हैं। सारा वातावरण खुला-खुला है। एक मोहक कमनीयता की सुगंध चारों ओर फैली है। शालीनता का पाठ तो लगता है यहाँ की प्रकृति को भी पढ़ा दिया गया है। सुजान मालियों के करतब के सांचों में ढली प्रकृति अपने सम्मोहन में दर्शकों को बाँधती है।

आम्र मंजरी की सुगंध की मादकता में सारा परिवेश रसमय हो गया है। पलाश यहाँ जल्दी फूल गया है, कदाचित आम का साथ देने के लिए। माधवी, बोगन बेलिया, कर्णिकार, जवाकुसुम और अनगिनत फूलों की बहुवर्णी सुंदरता से आवेष्टित है शांति निकेतन। शिक्षार्थियों के मुखमण्डल पर विद्या का तेज और नम्रता की द्युति जगमगाती दीखती है। हाँ, इस शिक्षायतन के परिसर को भली प्रकार सुसज्जित करने के लिए शायद पर्याप्त धन सरकार नहीं देती। सड़कें है पर सफाई नहीं है। भवनों के पास खुली जगह है पर वहाँ कचरे का ढेर लगा है। इसे साफ-सुथरा रखने के लिए पैसा और परिश्रम दोनों चाहिए। भविष्य में शायद कभी देश की शिक्षा की ओर कोई बुद्धिमान अधिकारी ध्यान दें। रंगकर्मी परिवेश में कला के प्रति समर्पित हो जाते हैं जिन्हें कला से कभी कोई सरोकार नहीं होता। अच्छा फूल, आकर्षक मौसम सज्जापूर्ण वातावरण देखकर सभी का मन लट्टू हो जाता है। दिगंत की ओट में डूबने वाली किरणें एवं सकाल में उगती हुई ताम्राभा देखकर सभी प्रफुल्लित होते हैं। धूप कुछ तेज हो गयी है। अभी दो बहुत आवश्यक काम बाकी हैं। एक तो अभयारण्य देखना और दूसरे रवींद्र साहित्य में वर्णित 'कोपाई' नदी का दर्शन।

बल्लवपुर पार्क का ही नाम अभयारण्य है। हरिणों की कई किस्में यहाँ पायी जाती हैं। यह पार्क काफी दूर तक फैला हुआ है। इसी के समीप एक छोटी झील है। हरिणों के नाम पर ही अभयारण्य को 'डियर पार्क' भी कहा जाता है। प्रवास पर गये हुए पक्षी लाखों की संख्या में झील के पास लौट आये हैं। कोई एक ताल है, कोई लय है, किसी लुभावने आकर्षण में बिंध कर पंखों पर खेलने वाले प्राण अपनी कौतुकी मुद्रा में दिखायी पड़ते हैं। यह पंखों की दुनिया है, गगन विहारियों का संसार है। धरती अपने ममत्व में सभी को बांधे है, चाहे वह आसमान में उड़ने वाला जीव हो, या भूमि पर विचरने वाला प्राणी।

अभयारण्य की झील में विचरण करने वाले पक्षी 'सीखपर' होते हैं। इनका अंग्रेजी नाम पिण्टेल है। यह एक प्रकार की बतख है। चैत के बाद भारत के उत्तर भूभाग में इसका आगमन होता

है। इसी को लंबी पूछ होने के कारण 'पुछार' भी कहा जाता है। यह अपने देश का अतिथि पक्षी है। गर्मी के दिनों में पहाड़ों पर चला जाता है। समूह में रहना इनका स्वभाव है। उड़ना और जल विहार करना सब कुछ साथ-साथ। हजारों-लाखों की संख्या में रहते हुए भाई-चारा लगातार बना रहता है। पशु-पक्षी भी जानते हैं कि उनका हित-अनहित कहाँ है। व्याध की लोभी दृष्टि इन पर गड़ी रहती है पर यह तो अभयारण्य है। यहाँ प्राणों का संकट नहीं है। शांतिनिकेतन से अभयारण्य जाकर पैदल लौटने का अलग आनंद है।

ऊंचे-ऊंचे शाल वृक्षों की सघनता मोहक लगती है। लगता है अपनी लंबाई से आसमान की ऊँचाई नाप लेना चाहते हैं। गुरुदेव ने कहीं इनके बारे में लिखा है कि दूर से आने वाले पथिकों को शालवृक्षों की ऊँचाई संकेत करती है कि शांतिनिकेतन यहीं है। अभयारण्य का दूसरा अधिकाधिक पाया जाने वाला वृक्ष 'आकाश मोनी' है। बंगला भाषा का यह नाम अभयारण्य के एक कर्मचारी ने बतलाया था। हलके हरे रंग की पतियाँ, यूक्लिप्टस की पत्तियों जैसी। ऊँचाई ज्यादा नहीं। अभयारण्य में निश्चिन्त होकर घूमिए। जंगली जानवरों का कोई डर नहीं है। एक भालू बेचारा कैदखाने में है। हरिणों की भोली-भाली आँखें अभयारण्य का अक्स उतारती घूमती हैं। एक क्षण में स्थिरता की प्रतिमूर्ति लगते हैं ये, पर अगले ही क्षण में उड़नछू होने के लिए तत्पर दीखते हैं। इनकी चौकन्नी आंखों में भोलेपन की अगणित छायाएँ तैरती रहती हैं।

शिक्षा निकेतन, झील, अभयारण्य और सौंदर्य लुटाती प्रकृति में कोई ऐसी अंतर्धारा यहाँ दीखती है जो अपने शीतल कणों से सराबोर कर देती है। तन-मन जुड़ा जाता है। हमें भाव लोक की वह सारी सम्पदा मिल जाती है जिसके लिए हम क्षण-प्रतिक्षण बेचैन रहते हैं। अपर्णा टैगोर वहीं मुझे एक दंतकथा सुनाती हैं।

कथा रवींद्रनाथ ठाकुर के बारे में है। शांतिनिकेतन के कण-कण में उनकी स्मृतियों की दीप्ति है। दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। किस्सा इस प्रकार है कि स्वच्छ आकाश में बादल देखकर एक व्यक्ति ने कहा—'देखो, देखो रवींद्रनाथ गोद में बिल्ली का बच्चा लिए आसमान में हैं। आकार साम्य के आधार पर दर्शकों को बात ठीक लगी। इस कलात्मक और वास्तव चित्र के बारे में उसने कई लोगों से कहा। दो, चार, दस, बीस लोग ललचायी आंखों से आकाश में रवींद्रनाथ को देखने लगे। थोड़ी देर के बाद वह आदमी गायब था। सभी लोग दृश्य देखते ही जा रहे थे। तन्मयता की यह लीला कितनी देर तक चली कहा नहीं जा सकता।

कोपाइ नदी के बारे में गुरुदेव की कविता में पढ़ा था। यह लंबी रचना उनके 'पुनश्च' संकलन में है। बहुत छोटी नदी। क्षुद्र नदी कह लीजिए। पर कहीं यह नाराज़ न हो जाय। जल्दी नाराज़ हो जाती है, तभी तो इसका नाम कोपाइ है, कोप करने वाली। शांति निकेतन के समीप ही उत्तर दिशा में पश्चिम से पूर्व की ओर बहती है। आगे जाकर कोपाइ का सम्मिलन पद्मा नदी से होता है। सभी जानते हैं, पद्मा बंगाल की प्रमुख नदी है। बंगाल में गंगा का ही दूसरा नाम है पद्मा। रिक्शेवाले ने आने-जाने के दस रुपये मांगे। कोपाइ को देखने की लालसा इतनी तीव्र थी कि वह कुछ भी मांगता, मैं देने को तैयार हो जाता।

नदी की ओर रिक्शा चल पड़ा। कच्ची पगडंडी पर उतर गया था वह। मुझे कोई विस्मय नहीं हुआ। इस महादेश के असंख्य लोगों का जीवन पगडंडियों से जुड़ा है। सामने दीखता है ग्वालपाड़ा गाँव। माटी के बने हुए कच्चे घर जिनके सिर पर पुआल की छाजन। गलियारों में खेलते हुए नंग-धड़ंग धूल-धूसरित बच्चे। इन्हें कोई चिंता नहीं है। देश चाहे जितनी बार आज़ाद हो, आधुनिक हो, इन्हें तो धूल-माटी ही भाग्य में लिखी है। रिक्शे को घूर-घूर कर देखते हैं। चेहरे पर अनेक

जिज्ञासाओं के फूल खिले हैं। ये बच्चे ही तो गंवई-गाँव के धन हैं, वहाँ की शोभा हैं। वृक्षों की हरियाली गाँव को घेरे हुए है। बांस के लंबे झाड़ों से घना झुरमुट ही बन गया है। इस गाँव के चेहरे को किसी नौसिखिए कारीगर ने लापरवाही से सँवारा है। बनाने कुछ चला था पर कोई अन्य रूप ही निकल आया। अब तो जो बन गया, सो बन गया। गोआलपाड़ा में राजवंशी रहते हैं। गुरुदेव ने 'कोपाइ' रचना में इन्हें याद किया है। कविता की थोड़ी-थोड़ी याद बची है। हठात् मन उधर दौड़ता है। एक तारतम्य उभरता है। सुधियों के बिम्ब जागते हैं और आँखों के फलक पर जड़ उठते हैं।

कोपाइ दूर से झलकने लगी। अपनी कृश काया को बालुका तटों में छिपाये हुए है। रिक्शा पैदल चल रहा है। गुरुदेव की रचना के खण्ड चित्र मेरे ध्यान में उभर आये हैं। आम, बरगद, झोपड़ी, खंडहर, बूढ़ा, कटहल वृक्ष। साथ में सरसों के खेत। पगडंडियाँ कास और सरपत से घिरी हैं। धारा हृदयहीन है। गाँव डरता रहता है। कोपाड का नाम श्रद्धास्पद ग्रंथों में आया है। यह गंगा का धारांश अंतस्तल में संजोये है।

थोड़े दिन के बाद परिवर्तन की आंधी में पुराना चेहरा उड़ा-उड़ा लगता है। संथाल के गांव का रूप भी बदला है। कोपाइ की भाषा में विद्वत्ता नहीं है। वह गाँव की बोली जानती है। वह अपना संबंध धरती और जल के साथ जोड़े हुए है। यह छोटी नदी यायावर है, परिभ्रामी है। मुझे तो पता नहीं, गुरुदेव कहते हैं, 'धरती की सुनहली और हरी संपदा के प्रति कोपाइ की घुमक्कड़ धारा ईर्ष्यालु नहीं है।' और सुनिए—'वर्षा में कोपाइ का तनबदन हबशी हो जाता है जैसे कोई ग्रामीण युवा संथाल लड़की ने महुए की मदिरा पी ली हो। जोर से हँसती हुई वह लड़की भँवर के रूप में अपनी घाघरी नचाती आगे बढ़ जाती है। कवि और समीप से देखता है। कोपाइ की अकिंचनता उसके लिए लज्जा का विषय नहीं है। उसका ऐश्वर्य उद्धत नहीं है और गरीबी में तुच्छता नहीं है।

एक स्वप्नलोक जाग्रत था। रिक्शा चालक ने माथे का पसीना पोंछा और खड़ा हो गया। 'कोपाइ थोड़ा आगे है बाबू जी। वहाँ तक रिक्शा नहीं जायेगा। कोई बात नहीं। पैदल ही चलते हैं। कोपाइ तक पहुँचने में तीनेक मिनट लगे होंगे।

सर्पिल गति से बहने वाली कोपाइ। कोई भयंकरता नहीं, अजनबीपन नहीं। बिल्कुल परिचित नदी है। शांत बह रही है। निर्मल जल की पतली धारा गंतव्य की ओर तीव्र आकांक्षा से बह रही है। बालू पर चलना बहुत आसान नहीं है। मैं तो धारा के बीचो-बीच खड़ा हो जाता हूँ। घुटने तक पानी है। ऐसी ही एक पागल नदी मेरे गाँव के समीप बहती है। अब तो उसे 'सई' नाम से पुकारा जाता है पर पुराणों में वह स्यंदिका नाम से जानी जाती है।

कुश, कास और सरपत के थानों का साथ लिए चलती है कोपाइ। दूर से छोटी-छोटी गायें आ रही हैं। साथ में बकरियाँ भी है। चरवाहा कांधे पर लाठी संभाले बहुत सतर्क नहीं है। नदी के साथ जानवरों का मन बहलता है। खुले वातावरण में उन्हें आजादी का अनुभव होता है। घर पहुँच कर तो पुन: खूटे से बंध जाना है। कोपाइ को देखकर विश्वास ही नहीं हुआ कि यह कभी कोप भी करती होगी। अधिक गहराई न होने के कारण वर्षा में तटों को तोड़कर फैल जाती होगी यह। उस समय कोपाइ किसी की न सुनती होगी। लहरों की वेणियाँ नाग-पाश में सब कुछ बाँध लेती होगी। कोप की मुद्रा में प्रेम-विह्वलता के चिह्न नहीं होते होंगे। नदी की कोप भंगिमा को कोई सागर ही झेल सकता है।

नन्हीं-नन्हीं चिड़ियाँ कोपाइ के पानी में छप-छप कर रही हैं। गायों से ये डरती नहीं है। यह तो प्रतिदिन का मेल-मिलाप है। मैं कोपाइ को भली-भाँति पहचान लेना चाहता हूँ। 'बाबूजी लौटिए' की

आवाज़ रंग में भंग करती है। लगभग आधे घंटे के बाद पुन: शान्तिनिकेतन आ गया हूं। वास्तव में शांतिनिकेतन अब एक शैली बन चुका है, एक जीवन पद्धति। चाल-ढाल, पहनावा, वार्तालाप एवं व्यवहार में वही कमनीयता और शालीनता जिसकी नींव पर प्रेम और परस्परता की बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी हो जाती हैं। कोपाइ और शांतिनिकेतन कितने तो समीप हैं। कोपाइ में कोप और संजीदगी दोनों है। स्वभावत: होनी भी चाहिए। अभयारण्य वस्तुत: प्रीति निकेतन है और शांति निकेतन जैसे सौष्ठव का दूसरा नाम हो।

□

पांच कविताएँ

रमेश कौशिक

(एक)

बल्गारिया

नीला आसमान
हरे मैदान और पहाड़
काला समुद्र
रंगों की विविधता के अनेक आयाम।

गुलाबों के बाग
चेरी के जंगल
अंगूरों के खेत
झूमते रहते हैं सुबह से शाम।

और इस सब के बीच
यह जो आदमी है
शताब्दियों के दुःस्वप्न से जागा है
अब यहाँ अक्षांश और देशान्तर
काटते नहीं हैं एक दूसरे को
दोस्ती के हाथ रहे थाम।

(दो)

ईश्वर

ईश्वर
हमारी आस्था का जल है
जिस पात्र में गिरता है
उसी का रूप धरता है।

(तीन)

तन-मन

अंकुरित
फिर पल्लवित होना
धर्म है तन का
गंध बन उड़ना गगन में
स्वप्न है मन का।

(चार)

एक उपग्रह में

ऊर्जा-सी व्याप्त हो
तुम सब दिशाओं में
समय तुमसे लिपट
पीछे भागता है
एक उपग्रह में तुम्हारा
बन गया हूँ।

(पाँच

तुम्हारा प्रभा-मंडल

एक तुम थी
एक था तुम्हारा प्रभा-मंडल
तुम जितनी दूर होती गयी
वह उतना ही बढ़ता गया
घेरे में लेता रहा
अतीत और वर्तमान
और भविष्य भी
उसी में समा गया
डूबते सूरज की तरह

दो कविताएँ

प्रेमशंकर रघुवंशी

(एक)

तुम्हें भी मालूम होगा

यह सच है कि तुम
साँस की तरह हो
जिसकी ताजगी से
महकता है मेरा रोम-रोम

तुम्हें उच्छ्वास की तरह
छोड़ता हूँ तो इतने भर को
कि तुम थोड़ा-सा घूमघामकर
ढेर-सी प्राणवायु समेटे
समा जाओ मुझमें जिजीविषा की तरह

लेकिन देख रहा हूँ कि तुम
आजकल कोहरे से
बोलने-बतियाने लगी हो
जो सूरज को भी दीवान की तरह
घेरकर बैठा है

ओ मेरी साँस । मेरी आत्मगंधा।।
इतना तो तुम्हें भी मालूम होगा कि
कोई भी दीवार रोशनी के खिलाफ होती है
और कोई भी कोहरा किरनों का जल्लाद
कि जिसके फंदों पर झूलती
पहाड़ की पहाड़ देहों की
शिनाख्त भी मुश्किल होती है

खतरों के निशान से ऊपर पहुँचकर पानी
डुबो देता है पुल
और लौट आने का शीतल सुख
खड़ा रह जाता है उस पार

ओ मेरी साँस । मेरी आत्मगंध
इतना तो, तुम्हें मालूम ही होगा ।।

(दो)

वे शब्द ही हैं
जो जनमते संग साथ
ध्वनियों की कोख से

वे शब्द ही हैं
जो खेलते नंग धड़ंग
वर्णों के समाज में बेझिझक

वे शब्द ही हैं
जो अर्थ छवियों के साथ
उठाते अनगिनत लहरें सोच-सिंधु में

वे शब्द ही हैं
जो हिज्जे करते ही मारे खुशी के
उछलते रहते देर तक जहन में

वे शब्द ही हैं
जो चाँद-सूरज-तारे बनकर
निखारते आसमान की नीलिमा
और बनते घप्प रात में जुगनू की चमक

वे शब्द ही हैं
जो धूप, हवा पानी बनकर
उलटते पलटते धरती की सोंधी गंध
और परसर्ग बने
जोड़ते सार्थक संबंध
कण-कण से ओर छोर
वे शब्द ही हैं ।।

हरी आकांक्षाएँ

डॉ. उमादत्त शर्मा 'सतीश'

जब पास-पड़ोस की गरजती हुई
रुखी
बेहद रुखी हवाएँ
तन-मन को
दबोचने लगती हैं,
और बारिश की बौछारें
शरीर को
तर-बतर कर देती हैं,

तब तुम्हें कैसा लगता है?
तब तुम क्या सोचती हो?
तुम्हारी हरी आकांक्षाएँ
तब कहाँ अंकुराती हैं?

जब चमचमाती रातें
तुम्हारे लिए
चमक बिखेरती हैं,
तुम चुपचाप बैठी रहती हो
समुद्र के किनारे-किनारे
नावों में तैरते तैरते
जल में मचलती मछलियाँ
जब तुम्हारे लिए
बुदबुदाती हैं,
तब तुम्हें कैसा लगता है?
तब तुम क्या सोचती हो?
तुम्हारी हरी आकांक्षाएँ
तब कहाँ उगती हैं?

जब-जब खुरदरी
त्वचावाली मछलियों को
डकारने के लिए
पैने दाँतों वाला मगरमच्छ
जलघर में ही
कहीं ललचा और आँखें
तरेर रहा होता है
कुछ ही क्षणों में वह
तुम्हारे सम्मुख
तैर जाता है,

तब तुम क्या चिंतन करती हो?
तब तुम्हें कैसा लगता है?
और तुम्हारी हरी आकांक्षाएँ
कहाँ फूटती हैं?

जब जब रात्रिभर
हरे-भरे द्वीपसमूहों के वासी
नृत्यमुद्राओं
और ढोल की गमक में
तन-मन का दर्द
टपकाते हैं
अनहोना सुख पाते हैं
समुद्र की ओर से
उगते सूर्य के साथ
बिखेरने का क्रम ज़ारी रखते हैं।

तब तुम क्या सोचती हो?
तुम्हें कैसा लगता है?
तब तुम्हारी हरी आकांक्षाएँ
कहाँ महमहाती हैं?
जब इन्सानों पर
बरसते चाबुकों की याद
बर्बरता, प्रहार, संहार और उत्पात,
सिकुड़ी हुई जलधारी आँखें
पढ़ती हो तुम उकेरे चित्रों में

तब तुम्हारी विश्वसनीय आँखें
हरी-हरी आकांक्षाएँ
कहाँ डबडबाती हैं?

तुम क्या सोचती हो?
तुम्हें कैसा लगता है?

फीजी, मारीशस, सूरीनाम
गुयाना, त्रिनिदाद, जमैका
या विश्व में फैली भारतवंशी जाति,
समुद्री जल से सिंचित
माटी में
श्रमस्वेद बहाते-बहाते
रोपे जो बिरवे तुमने
फूल, फल और अन्न के
शिक्षा, उद्योग और संस्कृति के
उनका उल्लास
उनकी हरियाली
युगयुगों तक
हरी भरी रहे
छिटकाती रहे चंदनगंध,
तब तक
सूरज, चाँद, सितारे
धरती, आकाश, मनुष्य
जब तक ! □

दो कविताएँ

हरदयाल

(एक)

मौन रहोगी

तुम रहती हो मौन
तुम्हारी देह-यष्टि लेकिन
हरदम मुखरित रहती है।
निर्गत नीर तीर तक आतीं
चतुर मछलियों-सी ये आँखें
कितनी गाथाएँ कहती हैं।
फिर भी कैसी चुप रहती हैं।
जब तक उन्हें आँख-भर देखें
जाने किस अथाह में तब तक
छूने की सीमा से बाहर
छिप रहती हैं।
कहीं दमकता स्वर्ण
कहीं दिपती चाँदी है
कहीं उमड़ते मेघ
कहीं काली आँधी है
मरमर सिल के इन कुम्भों में
कितना मधु संगीत भरा है।
होठों पर क्यों हाथ धरा है।
तन है अगर तरंग-भरा तो
मन में भी उमंग कुछ होगी

क्या शब्दों में उसे कहोगी।
या फिर बिल्कुल मौन रहोगी।

(दो)

जेठ की जलती धूप

जेठ की जलती धूप क्या बीती,
प्रयामा।
उमड़ आई तुम घटा-सी
छा गई मन के गगन पर
क्या हुआ जो नहीं बरसीं
बिना बरसे तुम रीती
बिना सरसे मैं हुआ अंजर
जेठ की जलती धूप
बीती भी न बीती।

दो गीत

यश मालवीय

(एक)

एक अपरिचित गंध
कहीं से दबे पाँव आयी
जैसे सूने तट,
फूलों से लदी नाव आयी

कितना भी अज्ञातवास हो
साथ चलू छत्रियाँ
छज्जे आँगन दालानों भर
सुधियाँ ही सुधियाँ

खुशी कनी बनकर फुहार की
गली गाँव आयी

छलक गया गगरी से पानी
मन था भरा-भरा
आँखों में छोने से दुबका
सपना डरा-डरा

कड़ी धूप में चलते-चलते
घनी छाँव आयी

माथ सजा नक्षत्र थाल में
नन्हा दिया जले
सुख के सौ संदर्भ जुड़े तो

पथ भूली ऋतु पता पूछकर
ठौर ठाँव आयी

(दो)

धूप उतारे राई नोन

आँगन में महका लोहबान
गंध नहाये भीगे प्राण।

हम सा भाग्यवान है कौन
पानी उठ-उठ कर गिरता
बीच नदी में मन तिरता

लहरों के बनते हैं कोण।

आँखों में चंदन के वन
युकलिप्टस के चिकने तन

दिन साखू रातें सागौन।

❑

११ अप्रैल पुण्य-तिथि पर

रिमझिम बरसत मेघ हे

डॉ. रामदरश मिश्र

''डाक्टर पर यहाँ की मिट्टी का मोह सवार हो गया है। उसे लगता है मानो वह युग-युग से इस धरती को पहचानता है। यह अपनी मिट्टी है।—नदी, तालाब, पेड़-पौधे, जंगल-मैदान, जीव-जानवर, कीड़े-मकोड़े—सभी में एक विशेषता देखता है।—बनारस और पटना में भी गुलमुहर की डालियाँ लाल लाल फूलों से लद जाती थीं। नेपाल की तराई में, पहाड़ियों पर पलास और अमलतास को भी गले मिल कर फूलते देखा है—लेकिन इन फूलों के रंगों ने उस पर पहली बार जादू डाला है।''

''गोल्डमोहर – गुलमुहर – कृष्ण,चूड़ा। गुलमुहर का कृष्णचूड़ा नाम कितना मौज़ू लगता है। काले कृष्ण के मुकुट में लाल फूल कितने सुन्दर लगते होंगे।''

''आम से लदे हुए पेड़ों को देखने के पहले उसकी आँखें इनसान के उन टिकोलों पर पड़ती हैं, जिन्हें आमों की गुठलियों के सूखे गूदे की रोटी पर ज़िन्दा रहना पड़ता है।—और ऐसे इंसान—भूखे, अतृप्त इंसानों की आत्मा कभी भ्रष्ट नहीं हो या कभी विद्रोह नहीं करे ऐसी आशा करनी ही बेवकूफी है।—डाक्टर यहाँ की गरीबी और बेबसी को देखकर आश्चर्यचकित होता है।—वह संतोष कितना महान है जिसके सहारे यह वर्ग जी रहा है? आखिर कौन सा कठोर विधान है जिसने हजारों हजार क्षुधितों को अनुशासन में बाँध रखा है।''

ये उद्धरण 'मैला आंचल' के छत्तीसवें अध्याय से लिये गये हैं। ये उद्धरण एक साथ जुड़े हुए हैं। ऐसे उद्धरण रेणु के साहित्य से कहीं से उठाये जा सकते हैं और गाँव के जीवन के संबंध में उनकी गहरी संश्लिष्ट पहचान की कलात्मक अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। डाक्टर इस गाँव में महज एक बाहरी डाक्टर बनकर आया था जो वैज्ञानिक होने के नाते मानता था कि दिल नामक कोई चीज़ नहीं होती। वह यहाँ व्याप्त मलेरिया का वैज्ञानिक कारण जानने आया था। वह बाहर का है, डाक्टर है, वैज्ञानिक निस्संगता वाले कर्म से जुड़ा है। वह बाहर से आये अनेक डाक्टरों या अफसरों की तरह इस गाँव से निस्संग होकर अपनी कमाई-धमाई भी कर सकता था या वहाँ की विसंगतियों का उपहास उड़ा

सकता था (जैसा कि कई उपन्यासों में हुआ है) किन्तु डा० प्रशान्त कहीं रेणु का प्रतिनिधित्व करता है इसलिए गाँव के प्रति रेणु की ममता, दर्द, सोच-समझ उसमें भर गया है। रेणु तो उसी धरती के हैं किंतु डाक्टर तो बाहर से आया है। रेणु का उस धरती से अनुरक्त होना स्वाभाविक ही है किंतु रेणु ने डाक्टर को उस धरती से प्रभावित दिखा कर दो कार्य किए हैं—(१) उस धरती की गहन प्रभविष्णुता की ओर संकेत किया है, (२) एक बुद्धिजीवी (चाहे वह डाक्टर हो चाहे साहित्यकार, चाहे और कोई) के गाँव के प्रति असली दायित्व का बोध कराया है। कोई भी बुद्धिजीवी, बुद्धिजीवी होने से पहले एक रागात्मक मनुष्य है और उसकी मनुष्यता की पहचान होती है सौंदर्य, अभिशाप, अभाव और विडंबनाओं से तनी हुई ज़िंदगी के बीच। डाक्टर का वैज्ञानिक और बाहरी आदमी धीरे धीरे इस गाँव की ज़िदगी के बीच धंसता है और वह यहाँ का हो जाता है। उसका वैज्ञानिक कर्म मानवीय कर्म में परिणत हो जाता है। डाक्टर का डाक्टरी कर्म मनुष्य के दुख-दर्द, सेवा-भाव आदि से स्पंदित हो उठता है और उसे लगने लगता है कि दिल नामक चीज़ होती है। यदि उसे निकाल दिया जाय तो मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता, पशु बन जाता है। इसीलिए डाक्टर मलेरिया संबंधी जो निदान देता है वह वैज्ञानिक नहीं होता, मानवीय और सामाजिक होता है। ''डाक्टर ने रोग की जड़ पकड़ ली है।— गरीबी और जेहालत इस रोग के दो कीटाणु हैं।—एनोफिल्स से भी ज़्यादा खतरनाक, सैंडफ्लाई से भी ज़्यादा ज़हरीले हैं यहाँ के—''

''डाक्टर पर यहाँ की मिट्टी का मोह सवार है'' कह कर लेखकर डाक्टर की उस मानसिकता की ओर संकेत कर रहा है जो किसी जमीन के रस में रच-पच जाने से बनती है। यहाँ मोह छिछले अर्थ में नहीं है बल्कि एक गहरे रागात्मक लगाव के अर्थ में है और यह रागात्मक लगाव केवल संवेदनात्मक नहीं है ज्ञानात्मक भी है। डाक्टर यहाँ की मिट्टी से गहरे रागात्मक सूत्र से जुड़ कर वहाँ के सुख-दुख का, मिठास और तिक्तता का बौद्धिक विश्लेषण भी करता है। यानी मिट्टी के प्रति उसका मोह उस मिट्टी से जुड़ी ज़िंदगी की एक बड़ी पहचान के रूप में उभरता है। वह उस मिट्टी से इतना जुड़ गया है कि लगता है वह उसे युग-युग से पहचानता है। भारतीय गाँव की ज़िंदगी एक संश्लिष्ट बिंब है उसमें प्रकृति और मनुष्य का गहरा साहचर्य है। केन्द्र में तो मनुष्य ही है किंतु मनुष्य सूने में तो नहीं खड़ा है। उसके आस-पास प्रकृति का विराट परिवेश है। उस परिवेश में ही वह पैदा होता है, बढ़ता है, वहीं से और उसी से अपनी जीविका अर्जित करता है और जीवन से जुड़ी उस प्रकृति के रूप-रस-गंध-स्पर्श-स्वर के, कोमलता और कठोरता के अनेक बिंब ग्रहण करता है। प्रकृति उसके जीवन के संदर्भ में ही उसे अच्छी और बुरी लगती है। प्रकृति के अनेक तत्व उसके सहचर बनकर उसे प्यारे लगने लगते हैं। डाक्टर ने पटना, बनारस और नेपाल की तराई में गुलमुहर खिलते देखा है लेकिन तब वे उसे केवल फूल लगे थे। वे साथी नहीं लगे थे। किसी धरती के प्रति गहरा जुड़ाव पहले से देखी चीज़ों को नया अर्थ दे देता है। डाक्टर तब किसी धरती से जुड़ा नहीं था इसलिए तब फूल केवल फूल थे, डाक्टर उन्हें देखता हुआ असंपृक्त भाव से निकल जाता था। अब वह धरती विशेष से जुड़ा है इसके नाते ही अब ये फूल उस पर जादू डाल रहे हैं। रचना का भी यही रहस्य है। वह किसी विशेष ज़मीन से जुड़कर ही जीवन-सौंदर्य को पहचानती और रचती है। ऐसा सौन्दर्य अमूर्त नहीं होता, वरन् एक विशेष परिवेश, एक विशेष ज़मीन से जुड़कर अधिक जीवंत और मूर्त हो उठता है। उसके साथ परिवेश जीवन के अनेक स्पंदन जुड़ जाते हैं और इसीलिए वह अपने प्रभाव में अधिक गहरा और सार्वभौम हो जाता है।

रेणु की जीवन-पहचान की एक और विशेषता है कि वे वर्तमान और अतीत को एक दूसरे में पैठ जाने देते हैं। वर्तमान के क्षण में गुलमुहर के जादू से प्रभावित डाक्टर अतीत की ओर, एक सुंदर

पौराणिक प्रसंग की ओर सरक जाता है और गुलमुहर के सौंदर्य को कृष्ण के मुकुट से जोड़ कर और भी प्रभावशाली बना देता है। सौंदर्य गुलमुहर के वर्तमान से लेकर अतीत तक दहकने लगता है। यह सौंदर्यबोध इस मिट्टी से जुड़ने के कारण ही फूटता है, पहले नहीं फूटा।

मिट्टी से मोह का मतलब केवल गुलमुहर के फूल देखना नहीं होता। यद्यपि इसे भी देखना जरूरी है (क्योंकि इससे कट कर जीवन जीना कष्ट कर हो जाता है) फिर भी यथार्थवादी लेखक धीरे धीरे एक आयाम से दूसरे आयाम में धंसता चला जाता है। वह प्रकृति को देखता देखता उस जीवन को देखने लगता है जिसके संदर्भ में ही प्रकृति चरितार्थ होती है। मेरीगंज गाँव (यानी भारतीय गाँव) प्राकृतिक सौंदर्य से ओतप्रोत है, किंतु उसी प्रकृति की गोद में जो मनुष्य पल रहे हैं वे कितने भूखे, नंगे, यातनाग्रस्त हैं। इसलिए वहाँ की मिट्टी के मोह से ग्रस्त डाक्टर प्रकृति को देखता देखता उन्हें देखने लगता है और उसका सारा प्रकृति-सौंदर्य उन्मेष जैसे ठंडा पड़ जाता है। ''आम से लदे हुए पेड़ों को देख . क पहले उसकी आँखें इंसान के उन टिकोलों पर पड़ती हैं जिन्हें आमों की गुठलियों के सूखे गूदे की रोटी पर ज़िन्दा रहना पड़ता है।'' प्रकृति की समृद्धि तो है पर किसके लिए? चंद धनवानों के लिए। आम से लदे पेड़ वसंत के सौंदर्य और जीवन की समृद्धि दोनों के प्रतीक हैं किंतु गरीब लोग प्रकृति के इस सौंदर्य और समृद्धि दोनों से वंचित हैं। इसलिए मानववादी लेखक की दृष्टि मनुष्य की उपेक्षा करके प्रकृति के सौंदर्य में नहीं रमती, वरन् उसे उसकी सापेक्षता में ही देखती है। कहीं दोनों के विरोध को देखती है कहीं साहचर्य को। आम से लदे पेड़ों की समृद्धि के विरोध में उसके उपयोग से वंचित हजार हजार लोगों बल्कि उनके नन्हें मुन्नों के अभाव को तान कर लेखक अभाव की विडंबना को गहरा देता है किंतु वहीं एक साहचर्य भी है वह यह कि आखिर इन्हें भोजन भी आम से ही मिलता है भले ही उसकी गुठली के गूदों से मिलता हो। बड़े लोगों के उपयोग के बाद बची हुई प्रकृति की तलछट उनकी ज़िंदगी बनी हुई है।

डाक्टर (यानी लेखक) आम जन की इस गहरी जीवन-विभीषिका का संकेत देकर वहीं रुकता नहीं, वह उस विभीषिका के परिणामों के बारे में भी सोचता है। ये परिणाम मूल्यवादी और मूल्यहीन दोनों हो सकते हैं। या तो लोग विद्रोही हो जाते हैं या अपराधी। डाक्टर दोनों स्थितियों को स्वाभाविक ठहराता हुआ उनका पक्षधर बन जाता है। उन्हें केवल यातना से लथपथ देखकर आँसू नहीं बहाता बल्कि यातना के विरुद्ध उनके सक्रिय होने की स्थिति में एक सौंदर्य देखता है, उसे मूल्यवान ठहराता है। यानी—अन्याय के विरुद्ध उनके पाप-पुण्य दोनों को ठीक मानता है। ''**ऐसे इंसान—भूखे अतृप्त इन्सानों की आत्मा कभी भ्रष्ट न हो, या कभी विद्रोह नहीं करे, ऐसी आशा करनी ही बेवकूफी है।**'' यह सोचने के बाद भी वह यह अनुभव करता है कि ये लोग इस अफाट गरीबी में भी आश्चर्यजनक संतोष धारण किए हुए हैं यानी इस स्थिति में जो विस्फोट होना चाहिए था वह नहीं हो रहा है। जो होना चाहिए और जो हो रहा है दोनों का एक तनाव डाक्टर के अनुभव जगत में उतरता है और यथार्थ को जटिल बना देता है।

यथार्थ की जटिलता को पहचानने की रेणु की यह विशेष शैली है। वर्गीकृत ढंग से यथार्थ को देखने वाले आलोचकों को रेणु में कुछ घोषित मार्क्सवादी यथार्थवादियों की तुलना में कम सामाजिक यथार्थ दिखाई देता है किंतु ज़ाहिर है ऐसे आलोचक यथार्थ की एक बनी-बनायी प्रक्रिया और निष्पत्ति पसंद करते हैं। वे कथा साहित्य को (और कविता को भी) यथार्थ का दस्तावेज मात्र मानते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि साहित्य के माध्यम से व्यक्त होने वाला यथार्थ अधिक सांकेतिक, कलात्मक और अन्तर्व्याप्ति होता है। रचना (भले ही वह कथा साहित्य ही क्यों न हो) का अपना सौंदर्य जगत होता है। उसकी सौन्दर्य प्रक्रिया को छोड़कर यदि हम उसमें से यथार्थ के जमे-जमाये शिलाखंड खोजना

शुरू करेंगे तो उसके साथ न्याय नहीं कर पायेंगे। सौन्दर्य की प्रक्रिया से गुजरने वाला रचनाकार जीवन के अनेक सारे तत्वों को परस्पर संग्रथित कर यथार्थ जटिल बिंब बनाता है और सांकेतिक ढंग से उसे कोई दिशा देकर अपनी पक्षधरता व्यक्त करता है। वह न जीवन का इकहरा चित्र खींचता है, न नारे लगाता है। रेणु सौंदर्य-प्रक्रिया से यथार्थ का जटिल बिंब उपस्थित करने वाले समर्थ कलाकार थे इसलिए सामाजिक यथार्थ के अनंत रूप उनके दृश्यों, लोक-गीतों, लोक-कथाओं, प्रकृति-चित्रों, संवादों आदि में अन्तर्व्याप्ति है और कलात्मक ढंग से आम आदमी के प्रति उनकी पक्षधरता भी व्यक्त होती है। व्यंग्य, करुणा, यातना, विद्रोह, प्रेम, आदि के जटिल बोध संश्लिष्ट बिंब बनकर उभरते रहते हैं, गाँव की जड़ परंपरा से आधुनिक चेतना टकराती रहती है, राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज व्यवस्था, धर्म के पारस्परिक दबावों से बनती हुई आज की जिंदगी की पर्तें खुलती रहती है।

आइए, 'मैला आंचल' के एक दृश्य से गुजरें। संदर्भ आषाढ़ का है। 'दो दिन से बदली छाई हुई है। आसमान कभी साफ नहीं होता। दो तीन घंटों के लिए बरसा रुकी, बूंदाबूंदी हुई फिर फुहिया, एक छोटा सा सफेद बादल का टुकड़ा भी यदि नीचे की ओर आ गया तो हरहरा कर बरसा होने लगती है। असाढ़ के बादल।—रात में मेंढकों की टरटराहट के साथ असंख्य कीट पतंगों की आवाज शून्य में एक अटूट रागिनी बजा रही है। टर्र ! मेक़-टर्रर्र—मेंक् ! फि फि चि किर किर्र— सि किंटिर किंटिर।— किं — टर्र—।''

प्रकृति का यह दृश्य है। इस छोटे से दृश्य में वर्षा के कई रूपों के विधान के साथ असंख्य कीड़ मकोड़ों के उल्लास की भागीदारी है। यह दृश्य हमें अपने भीतर से आगे ठेल देता है आदमी के सुख-दुख की ओर। **कोठारिन लछमी को नींद नहीं आ रही है। चित्त बड़ा चंचल है।** उन्हें वर्षा के इस उल्लास के बीच बालदेव जी की याद आ रही है और विरह वाण से घायल उनका मन सिसक कर रह जाता है। लेखक इस माहौल में रामदास की खोज खबर लेता हुआ किसानों की ओर सरक जाता है।

''गड़गड़ाम — गड़ गड़ बादल घुमड़ा। बिजली चमकी और हरहरा कर बरसा होने लगी।—''

''हाँ, अब कल से धन रोपनी शुरू होगी।—जै इन्दर महाराज बरसो।'' लोगों में वर्षा उल्लास बन कर छा रही है किंतु यह उल्लास 'पिकनिकी' मनःस्थिति का उल्लास नहीं है। खेतों के साथ जुड़ा हुआ जीवनधर्मी उल्लास है। जै इन्दर महाराज बरसो ताकि खेत बोये जा सकें। वर्षा के अभाव में उकठते खेतों में कल से धन-रोपनी शुरू होगी। हाँ लेखक की यथार्थवादी और अभावग्रस्त जन की वेदना को समझने वाली दृष्टि इस उल्लास के आगे एक 'लेकिन' लगा देती है। यह उल्लास धन-रोपनी को लेकर ही है न।— लेकिन बीचड़ (बीहन) के लिए धान कहाँ मिलेगा? ''आज तो पंचायत में सभी बड़े मालिक लोग बड़ी-बड़ी बात बोलते थे, कल ही देखना कैसी बात करते हैं, 'अपने खर्चा के जोग धान नहीं है, बीहन नहीं है अथवा पहले हमको बोने दो।'' यानी ये गरीब लोग उल्लास में भीगते भीगते एकाएक एक बहुत बड़ी समस्या या आशंका के रूबरू हो उठते हैं और लेखक एक साथ अतीत वर्तमान और भविष्य को परस्पर तान देता है। वर्तमान में ये लोग उल्लास में भीगते हुए कल (भविष्य) की आशंका से सहम जाते हैं। कल बोने के लिए धान कहाँ से मिलेगा? यह आशंका भी हो सकती थी किंतु इसमें उसके अतीत का अनुभव जुड़ा हुआ है। मालिकों की ओर से वे जो संवाद बोल रहे हैं वे काल्पनिक नहीं हैं वे अतीत अनुभवों से उभरे हैं। वर्षा के उल्लास भरे वर्तमान में वे अतीत के दुखद अनुभव और भविष्य की दुखद आशंका से घिरे हुए हैं।

लेखक इस अध्याय के पहले यह दृश्य प्रस्तुत कर चुका है कि वर्षा को बुलाने के लिए अभावग्रस्त तथाकथित छोटी जातियों की औरतें रात में हल चला चुकी हैं। लेखक ने एक प्रचलित विश्वास का रचनात्मक उपयोग किया है। विश्वास यह है कि यदि औरतें रात को हल चलायें तो वर्षा होती है। ज़ाहिर है बड़े घरों की औरतें इसमें शामिल नहीं होती हैं, होती हैं तथाकथित छोटी जातियों की औरतें। वे इस अवसर पर जट्टजाटिन का नाटक खेलती हैं और हल चलाते हुए किसी को भी गाली दे सकती हैं। यह गाली सम्मान सूचक होती है, जिसका नाम छूट जाता है वह बुरा मानता है। लेखक ने अपने उपन्यासों में ऐसे संदर्भों का प्रयोग बहुत बार किया है और हँसी-हँसी में बड़े लोगों के प्रति छोटे लोगों के मन में उमड़ते-घुमड़ते भावों को व्यक्त कराया है। बड़े लोग ऐसे अवसरों पर अपनी आलोचना सुन कर बुरा नहीं मानते।

यहाँ भी लेखक ने यह काम किया है, किंतु इससे बढ़कर एक और काम किया है। वह दिखाना चाहता है कि जिस ततमा, धानुक, पासवान, कोइरी टोले की औरतें वर्षा को बुलाने का उपक्रम करती हैं, वर्षा होने पर उसी टोले के लोगों को बोने के लिए धान नहीं मिलता। बड़े लोग तो भोगने के लिए हैं। इन्द्र राजा को खुश करने की क्रिया में उनकी कोई भागीदारी नहीं है। वे तो इंद्र राजा के खुश होने पर प्रसाद भोगने के लिए ही हैं। लेखक ने बड़ी सहजता से इस आर्थिक, सामाजिक विसंगति को उभार दिया है।

पानी बरस रहा है सोनाई यादव अपनी झोपड़ी में बारहमासे का तान छेड़े हुए है—

सावन हे सखी सबद सुहावन
रिमझिम बरसत मेघ हे

उसका गीत पूरे परिवेश में गूँजता है और सुहावन सावन का यह गीत अनेक लोगों के दर्द से टकराता है। सावन सुहावन तो है लेकिन किसानों को खेत में बोने के लिए धान न मिले तो? कालीचरन के आँगन में मंगला रहती है वह वहाँ डर रही है। बादलों के गरजने और बिजली के चमकने से उसे बड़ा डर लगता है। बचपन से ही उसे डर लगता है लेकिन आज एक डर और समा गया है। इस मौसम में किसी के आ जाने का डर। ''कौन— ?'' मंगला फुसफुसा कर पूछती है—''कौन?'' लेकिन इस डर का स्वाद कुछ अलग है। यह संदर्भ मंगला के डर को सहज ही एक अलग आयाम दे देता है।

कमली डाक्टर को याद करती है। ''खिड़की के पास ही डाक्टर सोता है। बिछावन भीग गया होगा। कल से बुखार है।—सर्दी लग गई है।—न जाने डाक्टर को क्या हो गया है?—''

प्रकृति की लीला, सोनाई यादव का गीत और विविध मानवीय मन:यात्रा साथ चल रही है और बरसात का एक बहुत सघन संकुल बहुआयामी बिंब निर्मित हो रहा है। वह बिंब बरसात का नहीं, उसके माध्यम से उस अंचल का है।

''छररर। छररर। बादल मानो धरती पर उतर कर दौड़ रहे हैं। छहर — छहर — छहर —'' और लेखक की दृष्टि बिरसा माझी पर पड़ जाती है। वह संथाल है। 'बिरसा माझी अब लेटा नहीं रह सकता। परसों गाँव वालों ने मीटिंग किया है, बाहरी आदमी यदि चढ़ाई करे तो सब मिलकर मुकाबला करेंगे।—कालीचरन भी था और बालदेव भी।— संथाल बाहरी लोग हैं।'' बिरसा माझी ने देखा है कि आज हरगौरी सिंह का सिपाही जमीन देख रहा था। उसे आशंका होती है कि पक गया अखता भदे धान तहसीलदार के आदमी काट ले जायेंगे क्या? क्या सचमुच तहसीलदार संथालों से ज़मीन छुड़ा लेंगे। उसे परेशानी इस बात से भी होती है कि जमींदारी प्रथा खत्म होने की बात सुनाई

पढ़ने पर भी यह सब होने के लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं। परेशानी इस बात की भी है कि उस मीटिंग में कालीचरन भी था जो किसानों के हक का नारा उठाता है। इसी मानसिकता का परिणाम होता है कि संथाल दूसरे दिन तहसीलदार के खेत में से धान लूट लेते हैं और अपने अधिकारों के लिए लड़ने को सन्नद्ध हो जाते हैं, लड़ते हैं और मारे जाते हैं।

इस प्रसंग को छोड़कर लेखक फिर आगे बढ़ जाता है और बारहमासे के रस में डूबता-डुबाता लोक जीवन के यथार्थ के विविध पहलुओं को खोलता चलता है। बारहमासा बारह महीनों का गीत है और बारह महीने लोक-जीवन के बाहरी और भीतरी यथार्थ के विविध संदर्भों से जुड़े होते हैं। इन महीनों के गीत उन्हीं संदर्भों को खोलते हैं। ये गीत किसी न किसी पात्र के दर्द से जुड़ जाते हैं—

'बाट चलैत - आ - केशिया संभारि बान्ह
ऊँचरा हे पवन झरे हे — ए — ए —..'

डाक्टर अब गीतों का अर्थ शायद ज्यादा समझता है क्योंकि उन गीतों की वह संवेदनाओं को जी रहा है। इसलिए वह सोनाय से भी ज्यादा इनका अर्थ समझता है। 'ऊँचरा हे पवन झरे हे !— आंचल उड़ी उड़ी जाय।' डाक्टर आंचल के उड़ने का अर्थ अनुभव कर रहा है।

सोनाय का गीत सुबह के खेतों से जुड़ कर सामूहिक हो जाता है। वह सामूहिक कर्म से जुड़कर सब का हो जाता है। सोनाय अकेला नहीं है, सैकड़ों कंठों में एक-एक विरहिनी मैथिली बैठी हुई कह रही है—

मास असाढ़ हो रामा, पंथ जनि चढ़िह
दूर ही से गरजत मेघ-रे-मेरो

सैकड़ों कंठों में एक एक विरहिनी है। यह अभावग्रस्त इलाका है जहाँ के लोग अर्थोपार्जन के लिए बाहर जाते हैं। विरह दुहरा है। विरहिनियों के अभावग्रस्त स्वर में प्रियतम के बिछोह का स्वर मिल जाता है। वे पति से अनुनय करती हैं कि असाढ़ मास में उन्हें छोड़कर न जायें। दुहरे दर्द से दंशित यह गीत खेतों में काम करते सैकड़ों कंठों से फूट रहा है और एक घने अवसाद की सृष्टि कर रहा है। मिथिला की पूरी ज़मीन अपने दर्द में गाने लगती है।

□

जब रेणु जी याद आए

शंकरदयाल सिंह

जब कभी रेणु जी की याद आई पता नहीं क्यों प्रसादजी की यह प्रसिद्ध पंक्ति भी याद आई — 'बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल'।

उस समय भी यह पंक्ति याद आती थी, जिन दिनों रेणुजी थे और आज भी यह पंक्ति याद आती है, जब वे हमारे बीच नहीं हैं।

रेणुजी के सामने होते ही कहने की जरूरत नहीं होती थी कि वह क्या हैं? कोई भी सहज रूप में अनुमान कर सकता था या कह सकता था कि किसी कलाकार, किसी अभिनेता या साहित्यिक का दर्शन कर रहा हूँ। उन अलकों को संभालने, सँवारने, सजाने और बेतरतीबी को तरतीब देने में उनका बहुत समय लगता होगा, ऐसा मेरा ख्याल है। और उन अलकों ने ही उनके व्यक्तित्व को सुरभित भी किया था तथा साहित्य-सृजन की पृष्ठभूमि भी गढ़ी थी।

उन्हीं श्री फणीश्वरनाथ रेणु को किसी प्रसंग में आज मैं याद कर रहा हूँ। कहाँ देखा था उन्हें पहली बार? शायद अपने ही घर पर। 'परती: परिकथा' का प्रकाशनोत्सव पटना के अशोक राजपथ पर हाथी पर लेखक तथा पुस्तक को बैठाकर किया गया था और उस पुस्तक के प्रथम खरीदार मेरे पिताजी थे। रेणुजी का वह हस्ताक्षरयुक्त 'परती: परिकथा' अभी भी उनकी याद मुझे हरदम दिलाती है। और जिस दिन उसका प्रकाशन हुआ था उसी दिन या फिर उसके दूसरे दिन शाम को वह, राजकमल के ओंप्रकाश जी तथा कतिपय साहित्यकार जिनमें से नलिनजी को याद कर पा रहा हूँ, मेरे घर खाने पर आए थे।

साल-संवत् और दिन का उल्लेख किए बिना मैं यह कहना चाहूँगा कि उसी दिन पहली बार मैंने उन्हें देखा था।

भरा-पूरा शरीर, पायजामा और कोकटी का कुरता, आँखों पर चश्मा, पाँवों में चप्पल, अधरों पर मुस्कुराहट, सांवला-सा शरीर, कुछ टटोलती-सी नजर और इसके साथ-साथ झूलती हुई उनकी लटें। यही थे रेणुजी। जिन्हें देखते ही पता नहीं क्यों प्रसादजी की वह पंक्ति मेरे सामने उसी समय खड़ी हो गई थी – 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल......'

उसके बाद दर्जनों बार रेणुजी से मिलना, उनके साथ बैठना, साहित्य से लेकर जीवन के अनेक पक्षों पर बातें-बहसें करना, कुछ पाना, कुछ खोना सब कुछ का सिलसिला बना रहा। मेरे पास जब कभी वे आते साहित्यकार के साथ-साथ राजनीतिक भी हो जाते थे। देश की वर्तमान स्थिति, प्रांत की बिगड़ती स्थिति और गिरते मूल्य पर वह स्वाभाविक चिंता प्रकट करते।

रेणुजी हर कोण से जागरूक और सहृदय साहित्यकार थे। बोलने का, किसी भी चीज को देखने का तथा किसी पहलू से जूझने का उनका अपना अंदाज था। वह न तो इस बात की चिंता करते थे कि कोई उनकी 'हाँ' में 'हाँ' भरे और न खुद जल्द हुँकारी भर देते थे। और इन्हीं बिंदुओं पर आकर उनका व्यक्तित्व झलक जाता था, जिसमें उनकी निजता थी तथा गाँव का अल्हड़पन भी था।

जिंदगी जीने की ख्वाहिश बड़ी होती है लेकिन इससे भी बड़ा कठिन है, मरने के लिए सदा तैयार रहना। वही कुछ ख्वाहिश थी उनके अंदर। जीने की चाह भला किसे न होगी या होती है, लेकिन वे विचित्र थे। जीना चाहकर भी मरने के लिए तत्पर रहते थे और यही रेणु औरों से जुदा थे।

सही अर्थ में जीना भी तो मरने का ही एक बहाना है या फिर उसकी प्रतीक्षा या उसकी आगवानी या तैयारी। दार्शनिक, आध्यात्मिक और निराश-हताश लोग भले इस सच्चाई को लेकर चलते हों, कोई साहित्यकार इसे गाँठ में बाँधकर नहीं चलता। मेरा मानना है कि रेणु इसे मानकर चलते थे, लेकिन इसका प्रकटीकरण जिस फकीराना अंदाज में करते थे कि सुनने वाले हँस देते थे। और कहने वाला कभी भी रोकर इसे नहीं कहता था।

डाक्टरों का कहना था – आप सिगरेट न पिएँ। शराब मुँह से न लगाएँ। संयम से काम लें। खाने-पीने का परहेज रखें।

रेणु जी किसी बच्चे के समान उन्हें तसल्ली दे देते थे। लेकिन कभी भी उस हिदायत का पालन नहीं करते थे, जो आदमी को बचाकर ले चले।

यह कैसा संयोग है कि मात्र दो कृतियों के बाद शीर्ष पर पहुँच पाए थे। हालाँकि जब यही बात दूसरे तरीके से आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने कही थी कि रेणु प्रेमचंद की खाई को पाटते हैं, तो अनेक लोग चौंक गए थे।

आम पाठकों से लेकर हिंदी के दिग्गज आलोचकों ने इसे स्वीकारा कि आंचलिकता का पर्याय ही रेणु हैं। 'बलचनमा', 'बूंद और समुद्र', 'आधा गाँव' और 'राग-दरबारी' के होते हुए भी जब तक 'मैला आंचल' और 'परती: परिकथा' का नाम नहीं लिया जाता, तब तक आंचलिकता की चर्चा पूरी ही नहीं होती है। भला इस बात से न जाने कितने लोगों को ईर्ष्या होती होगी कि हमने इतना लिखा, किसी ने जाना, न जाना और रेणु नाम के लेखक ने मात्र दो-चार पुस्तकें ही लिखकर अपने को सिरमौर बना दिया। इस तथ्य को चतुरसेन शास्त्री जी का वह वाक्य उजागर करता है, जो उन्होंने पटना के हिंदी साहित्य सम्मेलन में प्रकट किया था :

''रेणुजी की आंचलिकता उधार ली हुई नहीं थी। वह पटना के काफी हाउस में बैठते हों या इलाहाबाद के काफी हाउस में, उनका दिल पूर्णियां के जोगबनी, फारबिसगंज और हिंगना औराही में ही विचरता रहता था। यही कारण था कि वे महानगरों के कोलाहल में रहकर भी उनमें रमा नहीं जाते थे। उनका एक पाँव बंबई-इलाहाबाद-पटना में होता था, तो दूसरा पाँव कटिहार-पूर्णियां और जोगबनी में।

''भारतीय गाँव, ग्रामवासी तथा उनकी समस्याएँ उनके लिए मात्र रस्म-अदायगी लेखन की तरह नहीं थीं। बल्कि वे उन्हें अनुभव करते थे, कसमसाते थे, पीड़ा सँजोते थे, पकाते थे और तब उतारते थे। समाज या अव्यवस्था या सत्ता के फाँकों के बीच कराहती गाँव की जनता उनके लिए कभी भी चित्रपट की नुमायश नहीं थी। वे स्वयं उनमें से एक थे। यही कारण है रेणुजी की संवेदना, जीवन और यथार्थ दोनों है।''

मैं अपने साहित्यिक जीवन की बहुत बड़ी उपलब्धि 'परिजात' को मानता हूँ, जहाँ बिहार या

देश के वरिष्ठ तथा लोकप्रिय साहित्यकारों का आना-जाना सहज रूप से होता रहता है। श्रद्धेय रेणुजी भी उनमें से एक थे। प्रायः वह पारिजात से दो सौ कदमों की दूरी पर काफी-हाउस में बैठते थे, लेकिन यदा-कदा पारिजात आना भी नहीं भूलते थे। अधिकतर पटना से बाहर रहने के कारण उनसे मेरी मुलाकात बहुत कम हो पाती थी। लेकिन जब भी मिले ऐसे स्नेह के साथ कि मैं घंटों उससे आप्लावित रहता था।

आज रेणुजी हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन उनकी याद, वह कभी भी हमसे जुदा नहीं हो सकती है। और भारतीय परंपरा भी इधर बनती जा रही है कि आदमी जब तक रहता है तब तक हम उसे शायद नहीं पहचानते, लेकिन उसके उठ जाने पर आँसू ढरकाने में किसी से भी कम हम अपने को नहीं पाते हैं।

रेणुजी के संबंध में अनेक बातें उनके जीते और उनके उठने पर कही जाती रही हैं, जिनमें विस्तार न न जाकर इतना जरूर कहना चाहूँगा कि जिन आस्थाओं, मूल्यों और विश्वासों को संजोकर उन्होंने समाजवाद तथा जनता की सेवा की और उनके साथ लिपटे रहे उनकी वे आस्थाएँ और विश्वास जनता-शासन की स्थापना के साथ ही मुरझा गए। और मुझे ऐसा लगता है कि उनकी जिजीविषा उन दिनों सूख गई थी। साहित्य का भी कोई कोमल फूल होता है और वह इस प्रकार मुरझाता है, इसका भान उन लोगों को निश्चित रूप से हुआ होगा, जो उन दिनों रेणुजी के इर्द-गिर्द, दाएँ-बाएँ रहते थे।

भला साहित्यकार ने क्या-क्या सपना देखा होगा – संपूर्ण-क्रांति की उस वेला में, जिसमें उसने अपने आपको पूर्णतया समर्पित कर दिया था। लेकिन जब वक्त आया, तो लगा उसके नीचे की जमीन खिसक गई है। उन दिनों मुझे उनसे जब मुलाकात हुई तो उन्होंने बहुत सारी बातें कीं, जिनका कोई संदर्भ यहाँ नहीं बनता और न तो लिखना चाहता हूँ। लेकिन उनकी जब बहुत सारी बातें मैंने सुन लीं, तो उत्तर में मैंने उन्हें एक शेर सुनाया —

'वक्त जब गुलशन पे पड़ा था, तो हमने खून दिया,
अब बहार आई है तो कहते हैं तेरा काम नहीं'।

इस पर वह ठठाकर हँस पड़े। लेकिन उस हँसी के अंदर एक दर्द गहरा रहा था, जिसे समझने वाले ही समझ सकते थे। कल्पना की टक्कर जब वास्तविकता से होती है, तो ऐसा ही होता है। बिहार ने धर्म, अध्यात्म, ज्ञान, विज्ञान, प्रशासन, साहित्य और राजनीति में एक से अनेक सपूतों को पैदा किया, जिनमें रेणुजी का स्थान भी सुरक्षित रहेगा, इसमें दो राय नहीं हैं। दुख यही है कि जब उनके जीने की सबसे अधिक आवश्यकता थी, उसी समय वह हमसे बिछुड़ गए। उन्हें याद करने वालों में उनके असंख्य पाठक ही नहीं वरन् उनके वे मित्र भी हैं, जो परिवार के समान उनके साथ संबद्ध रहे और उन्हें जिलाने की तृष्णा में कहीं मीठा जहर देकर मारते रहे।

हाँ, इतना जरूर हुआ कि रेणु हमसे ऐसी अवस्था में बिछुड़ गए, जो उनके जीने की अवस्था नहीं थी और छोड़ गए अनगिनत सवाल कि केवल साहित्यकार होकर जीना कितना कठिन है और कितना आसान है। उनके द्वारा अधूरे छोडे अनेक प्रश्न हवा में तैरते रहेंगे, विशेषकर उन क्षणों में जब उनकी याद को कुरेदने की चेष्टा की जाएगी।

□

भारतीय कला, संस्कृति और सूर्य

दिनेशचन्द्र अग्रवाल

अत्यारंभिक काल से ही भारतीय संस्कृति में प्रकृति के प्रति आस्था का महत्व सर्वोपरि रहा है। हमारा सारा प्राचीन साहित्य प्रकृति में ब्रह्म की कल्पना के दाय के आधार पर ही रचा गया है। यह निर्विवाद सत्य है कि प्रकृति के बिना मानव का अस्तित्व ही नहीं है। असीम ऊर्जा से संपन्न प्रकृति के समक्ष मानव तुच्छ तथा निर्बल ही रहा है। यही कारण है कि प्रकृति के विविध दृश्य शक्तियों, यथा - अग्नि, सूर्य, वर्षा, मेघ, तड़ित, जल, तूफान आदि के हमारे प्राचीनतम वैदिक साहित्य ''वेद'' ने दिव्य मानवीय रूप में प्रस्तुत किया, देवता माना तथा उनकी उपासना की प्रशस्ति की। (''दिव्य शक्तया समपन्नः मानव एव''(ऋग्वेद) प्रकृति के इस साहचर्य से प्रेरित होकर ही यहाँ के समाज में अनेक परंपराओं ने सहज ही जन्म ले लिया, परिपुष्ट हुई तथा सदियों तक चलती रहीं। दिव्य शक्ति से संपन्न मानव रूपी देवताओं की पूजा का विधान सारे विश्व में सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति की ही देन है। अति प्राचीनकाल से आज तक अनेक देवी-देवताओं के अनगिनत रूप भारतीय धरा पर उद्भूत होते रहे हैं। प्राकृतिक प्रचंड शक्तियों से प्रेरित देवताओं में सर्वप्रथम स्थान ''अग्नि'' का रहा है। सभ्यता के अन्वेषण का सूत्रपात ही अग्नि से हुआ। हमारे प्राचीनतम वाङ्मय ''ऋग्वेद'' का आरंभ अग्नि के सर्वप्रथम प्रतिष्ठापन से ही होता है। (''अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजं होतारं रत्नधामम्।'') अग्नि के पश्चात् दूसरा देवता है सूर्य; अग्नि का पुंजित रूप, संपूर्ण विश्व को प्रकाश प्रदान करने वाला, ऋतुओं को लानेवाला तथा मानव को स्वास्थ्य ही नहीं वरन् जीवन प्रदान करने वाला एक मात्र स्रोत। अग्नि की विनाशकारी प्रवृत्ति से तो मानव भयभीत था किंतु सूर्य की कल्याणकारी प्रवृत्ति के प्रति वह कृतज्ञ तथा गद्‌गद् होकर नतमस्तक था। यही कारण है कि सूर्य की उपासना व मान्यता आदि काल से आज तक अगाध श्रद्धापूर्वक की जाती है।

वैदिक साहित्य का मुख्य अर्थसार सूर्य-उपासना ही है, जो विद्वत जन वेदों का वाचन करते हैं, सूर्य के ऐश्वर्य का ही मान करते हैं - (ये अर्वानुत वा पुराणे वेदम् विद्वान समभितो वदन्त्यादित्याम एव ते परिवदन्ति सर्वे'' (ऋग्वेद) वेदों में सभी देवताओं में सूर्य को प्रतिष्ठापित किया गया है। अथर्ववेदीय सूर्योपनिषद् में सूर्य को ब्रह्म का साकार रूप बताया है - ''ॐ असावादित्यो ब्रह्म।'' सूर्य को ही भगवान कहा गया है (''भग एव भगवाँ अस्तु देवः सनो भग पुर एतामभेव।'' — अथर्ववेद- ३/१६/५) सृष्टि के सभी जड़ व चेतन विषयों की आत्मा में भी सूर्य की स्थापना की गयी है (''सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'' - ऋग्वेद - १/११५/१) ''महाभारत'' में भी सूर्य को संपूर्ण जगत के

प्राणियों की आत्मा से संबोधित किया है, संपूर्ण प्राणियों का जीवन भगवान सूर्य पर ही आधृत है, संपूर्ण सृष्टि चक्र का संचालक सूर्य ही है ("त्वं भानो जगतश्चक्षुस्त्वमात्मा.... निर्वाणमं पाल्यते त्वया।" – वनपर्व –३/३६-३८), सूर्योपनिषद में ही सूर्य को ब्रह्मा, विष्णु तथा शूद्र माना गया है– ("एव ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्र एषहि भास्कर." १-सूर्योपनिषद) "महाभारत" में भी धर्मराज युधिष्ठिर सूर्य-स्तवन करते हुए, सूर्य को विष्णु ब्रह्मा व रुद्र के अतिरिक्त इंद्र, प्रजापति, अग्नि, मन तथा प्रभु भी मानते हैं (त्वामिन्द्र – माहुस्त्वं रूद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं प्रजापति:। त्वमानिग्नस्त्वं मन: सूक्ष्मं प्रभुस्त्वं ब्रह्मशाश्वतम्) इसके अतिरिक्त महाभारत में ही सूर्य को चराचर जगत का धाता-पाता, संहर्ता, एकदेव विशेष, कालाध्यक्ष, गृहपति, एक ज्योतिष्कपिंड और मोक्षद्वार के रूप में निहित किया गया है।

भगवान श्री कृष्ण अपनी विभूतियों का विवरण करते समय स्वयं कहते हैं – चंद्र, सूर्य और अग्नि में जो तेज है, वह मैं ही हूं, वह मेरा ही स्वरूप है – ("यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयते खिलम्। यच्चन्मसि यच्चाग्नौ-तत्तेजोविद्धि मामकम्।" – श्रीमद्भागवतगीता – १५/१२) तथा ("ज्योतिषां रविरशुमान" – श्रीमद्भागवत गीता – १०/२१) यही भाव "श्रीमद्भागवत" – ११/१६/३४ में भी दृष्टव्य है।

अपनी इहलीला समाप्त कर श्रीकृष्ण अंत में सूर्यनारायण में ही विलीन हो गये थे। "य: स नारायणो नाम .... कर्मणो न्ते विवेश ह।" – महाभारत, स्वर्गारोहण पर्व – ५/२५) सभी देवताओं का सूर्य से ही उद्भव तथा उसी में सबका विलय होता है। "सूर्यादि भवन्ति भतानि सूर्येण पालितानितु। सूर्ये लयं प्राप्नुवन्ति य: सूर्य: सो हमेव च।" – सूर्योपनिषद)।

(भारतीय संस्कृति के बीजाक्षर ॐ (ओ म्) तथा सूर्य के तादम्य का भी उल्लेख प्राय: हुआ है, ओ म् ही आदित्य (सूर्य) है, इस रूप में भी आदित्य का ध्यान करने का निर्देश मिला है – "आदित्य ओमित्येवं ध्यायंस्तयात्मानं युंजीनेति" – मैत्रायण्युपनिषद – ५/३")। सूर्य तथा ओ म् में तादाम्य की स्थापना तथा ओ म् से ही सूर्य के अवतरण भावना की श्रीमद्भागवत (स्कन्ध १२, अध्याय ६) में परिलक्षित होती है। जिस दिव्यज्योति को ब्रह्म माना गया है, वह भी सूर्य ही है ("यद्ब्रह्म तज्ज्योतिर्यज्ज्योति: से आदित्य:।" – मैत्रायण्युपनिषद – ५/३) सूर्य भगवान स्वयं कहते हैं— मैं ब्रह्म ही हूं, ऐसा जानकर पुरुष कृत कृत्य होता है ("ब्रह्माहमस्मीति कृत कृत्यो भवति।" – मण्डल ब्राह्मणोपनिषद – 3/२) संपूर्ण ब्रह्माण्ड में जो कार्य भगवान करते हैं, इस सौर मण्डल में सूर्य की भी वही स्थिति है तथा तत्सम कृति है अतएव वैदिक संस्कृति के रचयिताओं ने भगवान की सूर्य से उपमा दी है – ("भग एव भगवाँ अस्तु देव: सनो भग पुर एताभमेव।" –अथर्ववेद – ३'१६/५) तथा (ब्रह्म सूर्यसमं ज्योति:। –यजुर्वेद – २३/४८) उक्त संदर्भ में "भग" सूर्य का ही पर्यायावाची है। वेदों में सर्वप्रथम सूर्य के चौदह पर्यायवाची संबोधन मिलते हैं, जो इस प्रकार हैं — भग, वैवस्वत, मित्र, अर्क, सुपर्ण, सवित्र (सवित), पूषण, आर्यमन, विष्णु, वरुण, शुक्र, त्वश्त्रु, धात्रु तथा मरूत्मत। "ब्रह्मपुराण" के अध्याय-३३, श्लोक-३४-४५ में एक सौ आठ तथा "भविष्य पुराण" के सप्तमीकल्प में सूर्य के ही एक सहस्र नामों वाला "सूर्य सहस्र नाम स्त्रोत" ध्यातव्य है। "अमर कोष" में भी सूर्य के चउअन नामों की एक सूची है। इन सभी नामों का विस्तृत उल्लेख अत्यधिक स्थान-विस्तार की अपेक्षा करता है। वस्तुत: सूर्य तो एक ही है, उसके विविध नाम व रूप तो उसके गुण, कर्म और परिस्थिति के अनुसार प्रशस्त किये गये हैं।

सूर्य की सर्वोपरि दिव्यता, वैराट्य, माहात्म्य तथा स्तवन संबंधी सहस्रों संदर्भ ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, शुक्लयजुर्वेद, गीता, महाभारत के अतिरिक्त सूर्योपनिषद, चाक्षुषोपनिषद, अक्ष्युपनिषद, सूर्यतापिनी उपनिषद, तैत्तिरीय आरण्यक, औपनिषद श्रुतियों, सूर्यतंत्र, सूर्यशतक, मार्कण्डेय पुराण,

वह्निन पुराण, सूर्यपुराण, साम्य पुराण, श्रीमद्‌भागवत; जैन आगम साहित्यों में प्रमुखत: सूर्यप्रज्ञप्ति, नमस्कार संहिता, पौरिषी व भगवती; वराहमिहिर कृत वृहतसंहिता मध्यकालीन तांत्रिक साहित्य तथा बौद्धवाङ्‌मयों में भरे पड़े हैं जिनका उल्लेख स्थानोचित नहीं है, किंतु सभी ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सूर्य की सर्वशक्तिमत्ता तथा उच्चता का ही गुणगान किया है।

सूर्य की उत्पत्ति अथवा उद्‌गम को भारतीय प्राचीन वाङ्‌मयों में अतीन्द्रिय और अलौकिक विधान पर प्रस्तुत किया है। ऋग्वेद में सूर्य की उत्पत्ति विराट पुरुष भगवान के नेत्र से होने का संदर्भ आता है – (''चक्षो: सूर्यो अजायत'' – ऋग्वेद – १०/९०/१३) श्रुतियों के अनुसार संसार की उत्पत्ति से पहले सर्वत्र दिशाओं में एक मात्र अवर्णात्मक गहनतम अंधकार व्याप्त था तब सर्वशक्तिमान परमात्मा हिरण्यगर्भ का आत्मप्रकाश उदित हुआ, जिसके प्रकाश के समान अन्यतम प्रकाश इस भूतल पर नहीं है, उसे सूर्य से संबोधित किया गया। ऐतरेय ब्राह्मण उपनिषद् के अनुसार हिरण्यगर्भ रूप पुरुष के नेत्रों से सूर्य प्रकट हुए हैं (''चाक्षुष आदित्य ....।'' ऐ. उ. – १/१/४) विष्णुपुराण के याज्ञवलक्यकृत सूर्यस्तोत्र (अंश-३, अध्याय-५) में सूर्य को ''अग्नीषोमभूत'' अर्थात् अग्नि तथा सोम द्वारा उद्‌भूत कहा गया है। ब्राह्मण ग्रंथों में भी सूर्य उद्‌भव विषयक इसी भावना को वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया है। वहाँ सूर्य को पार्थिव, आंतरिक्ष्य एवं दिव्य - तीन अग्नियों का समष्टि रूप पिण्ड कहा है। पिण्ड-निर्माण सोम के बिना नहीं हो सकता, अग्नि में सोम की आहुति से ही सूर्य का उदय प्रतिपादित है – ''आहुते: (सोमाहुते:) उदैत (सूर्य:)।''

प्राचीन साहित्य में सूर्य की उत्पत्ति को प्राय: अलौकिक परिप्रेक्ष्य में ही प्रस्तुत किया गया है। वह तो सर्वज्ञ ही है कि जो देवता जितने अधिक महान होते हैं, उनकी जन्म कथा भी उतनी ही अद्‌भुत तथा विविध रूपी होती है। पौराणिक ग्रंथों में ही इस विषय पर कई कथाएँ निहित हैं, वे न केवल विचित्र हैं अपितु उनमें सूर्य के वैज्ञानिक आयामों का रूपकात्मक विन्यास भी परिलक्षित होता है। ये कथाएँ अधिकांशत: मार्कण्डेयपुराण पर ही आधृत हैं तथा विशेषकर भविष्य पुराण के ब्राह्मपर्व, वराहपुराण के आदित्योत्पत्ति अध्याय, कूर्मपुराण के चालीसवें अध्याय, विष्णुपुराण के द्वितीय अंश/अध्याय-११; मत्स्य पुराण के एक सौ एकवें अध्याय तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्री कृष्ण खण्ड/अध्याय उनसठ आदि में वर्णित हैं। इस विषय में ''हिंदी विश्व कोष'' भी द्रष्टव्य है। सभी कथाएँ सूर्य जन्म को एक दिव्य तेज पुंज उद्‌भूत मानकर रची गयी हैं। संपूर्ण विश्व में भारत ही ऐसा देश है, जहाँ के साहित्य में सूर्य की व्याख्या, महत्ता तथा विवेचन संबंधी आलेख भरे पड़े हैं।

सूर्य की शाब्दिक व्याख्या हेतु ''निरुक्त'' कार यास्क ने सूर्य शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की है – (''सूर्य: सर्तेर्वा सुवतेर्वा।'' – १२/२/१४)'' सिद्धांत कौमुदी।'' –पाणिनि सूत्र – ३/१/१४४) से निपातित सूर्य की व्याख्या इस प्रकार हुई है – ''सरति सातत्येन परिभ्रमत्याकाश इति सूर्य:।'' अर्थात् आकाश में जो गमन करता है वही सूर्य है। यद्यपि सूर्य यथार्थत: स्थिर है, किंतु फिर भी लोक समाज को ऐसा चाक्षुष भ्रांत अनुभव होता है कि सूर्य पूर्व दिशा में उदय होता है तथा एक विशिष्ट मार्ग पर विचरण करता हुआ पश्चिम दिशा में अस्त होता है। सूर्य की इस विचरण क्रिया से प्रेरित होकर ही सूर्य को सुपर्ण, गरुड़ तथा दिव्य अश्व से संबोधित किया गया है। उदय से अस्त तक की इस यात्रा का क्रम सूर्य निरंतर व अबाध गति से करता रहता है। सूर्य की इस अद्वितीय कर्मशीलता से प्रभावित होकर ही इंद्र ने रोहित को लोकमंगल के लिये सूर्य देव की भाँति कर्मपथ पर सदैव चलते रहने का उपदेश दिया था (''सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति।''– ऐतरेय ब्राह्मण ३३//५) कर्मयोग के उपदेश का वास्तविक अधिकारी तथा सर्वश्रेष्ठ पात्र सूर्य को जानकर ही श्रीकृष्ण ने कर्मयोग का सर्वप्रथम उपदेश सूर्य को ही दिया था। तत्पश्चात सूर्य ने मनु को तथा मनु ने इक्ष्वाकु को

कर्मयोगोपदेश दिया था। कालांतर में वही उपदेश श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिया था– (इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् रहस्यं ह्येतदुत्तमम''।– श्रीमद्भागवतगीता– ४१/३)।

सूर्य के प्रत्यक्ष देवत्व को आस्तिक और नास्तिक एवं साकार व निराकार ईश्वर में आस्था रखने वाले सभी ने सहर्ष स्वीकारा है। इनका चाक्षुष दर्शन सर्वाधिक सहज व सुलभ है, अतएव लोक मानस में इनकी उपासना आदिकाल से ही प्रचलित है। **लोक सम्मानित होने के कारण ही भारतीय संस्कृति में सूर्य की महिमा अतिशय रही है तथा वह भारतीय अध्यात्मिक जीवन का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत करती है। वैदिक काल में ही सूर्य को आचार्य रूप में प्रतिष्ठित किया गया था तथा सूर्य को संबोधित करते हुए उपासक की बुद्धि को अपने तेज द्वारा प्रकाशित करने की प्रार्थना की गयी थी** – (''तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'' ... शुक्ल यजुर्वेद – ३६/३) वेदों से उद्धत कई स्रोतों के समन्वय और संकलन से ही स्तवन हेतु ''गायत्री'' की रचना हुई। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र सवितोपासना का तत्व, चारों वेद तथा समस्त ज्ञान व प्रज्ञा का ही सार है जिसमें सर्वाधिक उल्लेखनीय स्तुति इस प्रकार है – ''ओम् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव।'' – ऋग्वेद ५/८२/५ तथा शुक्ल यजुर्वेद – ३०/३) अर्थात् – हे परब्रह्म स्वरूप सविता देव, आप हमारे पापों को हमसे दूर करें, हम सभी प्राणियों के लिये चारों ओर से कल्याण-मांगल्य ले आयें, वही हमें प्रदान करें। हिंदू धर्म-दर्शन के अनुसार मानव जीवन का सर्वोपरि प्रयास एवं लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति रहा है जिसके लिये वह सत्कर्म तथा ईश्वर भक्ति करने का प्रयास करता रहता है, किंतु सूर्य के दर्शन मात्र से ही मानव को पुनर्जन्म प्राप्त नहीं हो पाता है अर्थात् मानव योनि से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। उक्त विधान को भी वैदिक दार्शनिकों ने ही प्रशस्त किया था – (''भास्करं दृष्टवा पुनर्जन्म न विद्यते।'' – ऋग्वेद संहिता) । सूर्य की पूजा हेतु अनेक स्तुतियाँ अनेक ग्रंथों में भरी पड़ी हैं, जिसको जो भी भा गयी उसे ही उसने अपना लिया। भगवान श्रीराम रावण से युद्ध करते हुए जब अत्यधिक परिश्रांत होकर घोर चिंता में डूब गये तो महर्षि अगस्त्य ने श्रीराम को ''आदित्य हृदय स्तोत्र'' के जप द्वारा सूर्योपासना करने का निदेश दिया था। ऐसा करने के पश्चात् ही वे रावण का शिरश्च्छेद कर पाये थे – (''एनमापत्सु कृच्छ्रेषुकान्तारेषु भयेषु च कीर्तियन् पुरुषः कंचित् नाव सीदति राघवः।'' – वाल्मीकि रामायण – ६/१०५/२५)। सूर्य की सच्ची आराधना के प्रसाद स्वरूप ही महाभारत काल में धर्मराज युधिष्ठिर को अपने चार भाइयों सहित अज्ञात वनवास काल में, एक ऐसा अक्षय पात्र प्राप्त हुआ था जिसमें सदैव भोज्य पदार्थ भरा रहता था, वह कभी रिक्त नहीं होता था (महाभारत-वनपर्व-३/७१)।

विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मुगल सम्राट अकबर भी सूर्य का उपासक बन गया था, उसके समय की ही एक हस्तलिखित पुस्तक ''सूरिष्बर और सम्राट'' के अनुसार राजा बीरबल (मंत्री) द्वारा सूर्य के माहात्म्य और प्रताप के बताये जाने पर ही सम्राट सूर्य की आराधना करने को प्रेरित हुआ था। एक अन्य पुस्तक ''भानुचंद गणि चरित'' के अनुसार सम्राट अकबर ने एक ब्राह्मण से ''सूर्य सहस्र नाम'' पूछा, पर वह ठीक से बता नहीं सका। तब जैन विद्वान भानुचंद्र ने ''सूर्यसहस्र नाम'' स्तोत्र सुना दिया और तभी से प्रति सप्ताह रविवार को सम्राट उन जैन विद्वान के मुख से सूर्य सहस्रनाम सुनने लगा। उक्त सूर्य स्तोत्र की एक हस्तलिखित प्रति आगरा स्थित विजय धर्म सूरि ज्ञान मंदिर में सग्रहीत है। इस प्रति के अंत में अकबर को स्तोत्र सुनाने का उल्लेख इस प्रकार है .... ''अमु श्री सूर्य स्तोत्र सहस्रनाम स्तोत्र, प्रत्यहं, प्रणय पृथ्वीपति कोटी संघ हित पद कमल त्रिखण्डाधिपति दिल्ली पति पाति साहि श्री अकबर साहि जलालदीनः प्रत्यहं श्रृणोति सो ति प्रतापवान भवतु।। कल्याणमस्तु।।'' इसके अतिरिक्त बदांयुनी लिखता है कि **अकबर ने हुक्म निकाला था**

कि सवेरे, दोपहर, शाम और मध्य रात्रि – इस तरह दिन में चार बार सूर्य की पूजा करनी चाहिये। सम्राट स्वयं सूर्य की ओर मुख कर सूर्य के एक सहस्र नामों का पाठ भक्तिपूर्वक करता था। इसके बाद अपने दोनों कानों को छूकर चक्राकार घूमता और अपनी अंगुलियों से कर्मपाली को पकड़ता था। जहांगीर भी सूर्य का सम्मान करता था तथा उसने अकबर द्वारा सम्मानित सौर संवत् को राजकीय कार्यों में काल-गणना के लिये प्रचलित कर रखा था। १५६७ ई. में सूर्य ग्रहण के अवसर पर अकबर ने स्थानेश्वर (कुरुक्षेत्र) की यात्रा की थी। बदायुनी ने यह भी लिखा है कि सम्राट के आदेश पर ही शेख ख्वाजा की कब्र पर जालीदार झरोखा इस प्रकार और इसलिये लगाया गया था कि उस (कब्र) पर सूर्य का प्रकाश पड़े और शेख के सभी पाप धुल जाए। एक अहिंदू शासक द्वारा सूर्य देवता के प्रति हिंदू धार्मिक रीति द्वारा इतना विशिष्ट सम्मान तथा आस्था भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में अपने आप में अद्वितीय है।

भारतीय साहित्य में सूर्य के धार्मिक तथा आध्यात्मिक माहात्म्य विषयक अथाह सामग्री भरी पड़ी है, किंतु इसके अतिरिक्त वैज्ञानिकों, ज्योतिषियों तथा चिकित्सकों ने भी सूर्य तत्व से अपने ज्ञान में अभिवृद्धि कर जन-कल्याण के नये आयामों का अन्वेषण किया। संसार का संपूर्ण भौतिक विकास सूर्य पर ही आधारित है, उसकी सत्ता के बिना पौधे नहीं उग सकते, वायु का शोधन नहीं हो सकता, जल की उपलब्धि नहीं हो सकती, प्राणियों में स्फूर्ति व नवचेतना का संचार नहीं हो सकता तथा मानव नीरोग नहीं रह सकता। सूर्य में निहित प्रबल रोगनाशक शक्ति से प्रेरित होकर ही प्रार्थना की गयी थी – ''आरोग्यं भास्करादिच्छेन्मोक्षच्छेज्जनार्दनात्।'' – (ऋग्वेद)। सूर्य-किरण-चिकित्सा पर देशी-विदेशी चिकित्सकों ने कई ग्रंथ लिखे हैं तथा कई असाध्य व अक्षय रोगों के चमत्कृत निदान ढूंढ निकाले हैं। अंग्रेजी में कथन है – ''सन लाइट इज़ लाइफ एण्ड डार्कनेस इज डेथ'' – (सूर्य-प्रकाश ही जीवन है और अंधकार ही मृत्यु है। अथर्ववेद में पाँव, जानु, श्रोनि, कंधा, मस्तक, कपाल तथा हृदय आदि के रोगों को उदीयमान सूर्य-रश्मियों द्वारा निरस्त करने का उल्लेख आता है – ''रामचरितमानस'' में गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं – ''भानु कृसानु सर्ब रस खाहीं'' व आगे लिखते हैं – ''समरथ के नहिं दोष गुसाई। रवि पावक सुर सरि की नाई।।'' सूर्य द्वारा चर्म रोगों में सर्वाधिक वीभत्स और दुस्साध्य कुष्ठ रोग से मुक्ति पाने के कई उल्लेख प्राचीन साहित्यों में मिलते हैं। साम्ब पुराण में अपने ही पिता, श्रीकृष्ण तथा महर्षि दुर्वासा के शाप द्वारा भयंकर कोढ़ से पीड़ित साम्ब सूर्य की आराधना के प्रसाद स्वरूप ही पूर्णतया रोग मुक्त हो गये थे तथा उन्हें कंचन काया प्राप्त हुई थी। यह कथा अन्य पुराणों में भी कुछ परिवर्तित रूप में विद्यमान है। सातवीं शती ई. में सम्राट हर्षवर्द्धन के राज दरबार द्वारा सम्मानित कवि बाणभट्ट के साले व सुप्रसिद्ध कवि मयूर भट्ट ने अपनी ही पुत्री के शाप द्वारा कुष्ठ पीड़ित होकर सूर्योपासना द्वारा रोग से मुक्ति तथा अति सुंदर काया प्राप्त की थी। इसके साथ ही उन्होंने ''सूर्य शतकम्'' (सूर्य-स्तवन एवं महात्म्य के सौ श्लोकों का संग्रह) की एक उच्च कोटि की रचना की थी जो आज तक भी संस्कृत साहित्य की एक अमूल्य निधि मानी जाती है। भारत में कई स्थानों पर सूर्योपासना हेतु बालार्क (बालादित्य) के मंदिर बने हैं जहाँ प्रतिवर्ष हजारों चर्मरोगी स्वास्थ्य-लाभ हेतु जाते हैं, दतिया जिले में उन्नाव नामक स्थान पर बालाजी का सूर्य मंदिर है, जहाँ असाध्य कुष्ठ रोगियों को चमत्कारिक रूप से रोगमुक्ति प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार श्रीराम जन्मभूमि अयोध्या के निकट एक प्राचीन सूर्यकुण्ड में स्नान करने से सभी प्रकार के चर्म रोगों का विनाश हो जाता है।

प्राचीन काल में केवल सूर्य-किरणों तथा विशिष्ट सूर्य-आराधना पद्धति द्वारा गंभीर नेत्र-रोगों में अचूक रामबाण चिकित्सा की जाती थी। आराधना के अंतर्गत ''चक्षुष्मती विद्या स्तोत्र'' (अक्ष्युपनिषद)

अथवा ''चाक्षुषी-विद्य स्तोत्र'' (चाक्षुषोपनिषद्) का जाप किया जाता है। सूर्य स्नान, सूर्य-नमस्कार तथा सूर्य-रश्मि-वर्ण पर आधारित प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति से कई असाध्य रोगों का निदान ढूंढ़ा गया है। जब सभी अन्य औषधि असफल हो जाएँ तो भी रोगों को निराशा न होकर सूर्य की शरण में ही आना चाहिये। क्योंकि सच्चे हृदय से भक्तिपूर्वक भगवान सूर्य की उपासना मात्र से सभी रोगों से मुक्ति मिल जाती है – (''अस्योपासना मात्रेण सर्वरोगात् प्रमुच्यते'' – पद्मपुराण – सृ. खं. ७९/१७) तथा (''सूर्यो नीरोगतां दद्याद भक्तया यैः हि सः।'' – स्कन्द पुराण – २/३/१५)।

ज्योतिष तथा खगोलीय क्षेत्र में भी सूर्य का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। नवग्रहों में सूर्य ग्रहराज कहे जाते हैं। ग्रहों की गति तथा उनकी दुनिया का वैज्ञानिक विवेचन भारतीय मनीषियों ने धार्मिक तथा ज्योतिष-ग्रंथों में सविस्तार किया है। किसी व्यक्ति विशेष के जीवन में प्रत्येक ग्रह की गति व स्थिति का निश्चित प्रभाव होता है। सूर्य तथा अन्य ग्रह एक विशेष स्थिति में संयोग करके व्यक्ति विशेष को उच्चतम सम्मान दिलाते हैं तथा राजपद पर सुशोभित कर देते हैं और प्रतिकूल परिस्थिति में वे उसे राजसिंहासन से नीचे पटककर श्रीहीन कर डालते हैं – ''ग्र हा राज्यं प्रयच्छन्ति ग्रहा राज्यं हरन्ति च। ग्र हैस्तु व्यापितं सर्वं जगदेतच्चराचरम्।'' ग्रहों की गति में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है ''सूर्यग्रहण''। प्राचीन काल में महर्षि अत्रि तथा मध्यकाल में आचार्य भास्कराचार्य ने सूर्यग्रहण का विषद विवेचन प्रस्तुत किया था। ''सिद्धांतशिरोमणि; ''सूर्य सिद्धांत'' तथा ''अत्रिख्याति'' ग्रंथों में इस विषय पर प्रचुर सामग्री है जो अनुसंधानकर्ताओं के लिये प्रेरक सिद्ध हो सकती है। पुराणों तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों में प्रशस्त विधान के अनुसार सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र (सम्प्रति थानेश्वर-हरियाणा प्रदेश) तथा पुष्कर (अजमेर, राजस्थान) में स्थित सरोवर में लाखों श्रद्धालुओं द्वारा स्नान करना, निर्बलों व शूद्रों को सामर्थ्यानुसार अन्न, धन व वस्त्रादि दान करने की परंपरा सदियों से चलती आयी है। सूर्यग्रहण में महानंदी (गंगा), यमुना, सरस्वती आदि नदियों में या किसी सूर्य प्रतिमा के निकट मंत्र जपने से वह सिद्ध हो जाता है – (''सूर्य ग्रहणे महानद्यां ... सिद्ध मंत्रो भवति।'' – गणपत्युपनिषद्, मंत्र-८)। इसी कारण अनेक साधक सूर्यग्रहण के विशिष्ट अवसर की प्रतीक्षा किया करते हैं तथा इन नदियों के तट पर स्थित तीर्थ स्थलों पर लाखों श्रद्धालु इस दिन स्नान करते हैं, मेले जुड़ जाते हैं। जो स्थान इन नदियों से बहुत-बहुत दूर स्थित है, वहाँ सूर्य-मंदिरों के निकट सूर्य-कुण्डों का निर्माण किया गया है।

तंत्र तथा योग साधना में भी सूर्य ने साधकों को प्रभावित किया है। वस्तुत सूर्य और नाड़ी के बीच अटूट संबंध है। सूर्य संयमन, सूर्य भेदन प्राणायाम, सूर्य चक्र जागरण तथा सूर्य त्राटक योग द्वारा साधक असीम परा (शक्ति) तथा अति संवेदनशीलता (सुपर सेंस्टिविटि) प्राप्त कर लेता है। यहाँ स्मरणीय है कि लंकाधिपति रावण द्वारा बलात् रखे जाने पर जगन्माता सीता लंका में सूर्य पर त्राटक योग द्वारा ही दीर्घकाल तक तपस्या करती रही थीं। सीता जी को इस योग का पूर्ण ज्ञान था, इस तथ्य की अनुभूति महाकवि कालिदास द्वारा भी प्रस्तुत की गयी है – ''साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरुर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुंयतिष्ये। ... विप्रयोग।। ''– रघुवंशम् – १४/६६) अर्थात् पुत्र को जनने के बाद मैं सूर्य में दृष्टि बाँधकर ऐसी तपस्या करेंगी कि अगले जन्म में भी आप (राम) ही मेरे पति हों। तंत्र तथा योग के शास्त्रीय सिद्धांत तथा अभ्यास क्षेत्र में अधिक विस्तृत विवेचन न करते हुए, केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि सूर्य में संयम करने से भुवन (संपूर्ण लोक) का ज्ञान प्राप्त हो जाता है – (भुवन ज्ञानं सूर्ये संयमात्।'' – वि. पाद-२६, पातंजल-योग दर्शन)। तंत्र तथा योग में सूर्य के महत्व का विवेचन ''प्राणतोषिणीतंत्र'' तथा ''योगशिखोपनिषद्'' में सविस्तार हुआ है।

जैन धार्मिक परंपराओं में भी सूर्य को विशिष्ट सम्मान दिया गया है। यद्यपि जैन संप्रदाय

यथार्थत: सूर्योपासक नहीं है। जैन धर्म के महत्वपूर्ण शास्त्रों में एक आगमग्रंथ "सूर्यप्रज्ञप्ति" है जिसमें सूर्य संबंधी इतनी सूचनाएँ भरी पड़ी हैं कि उनके आधार पर ज्योतिष के क्षेत्र में ही कई विधान अनुसंधान कर सकते हैं। सूर्य की अनुपस्थिति में जैन मुनि भोजन भी नहीं करते हैं इस तथ्य की अभिव्यक्ति "आगमवाणी" में इस प्रकार हुई है - "अत्थंगयम्मि आइच्चे पुरथ्था य अणुग्गए। आहारमइयं सव्वं मणसा वि ण पत्थए।।" तात्पर्य यह है कि सूर्यास्त से सूर्योदय तक मुनि किसी प्रकार के आहार की मन से भी इच्छा न करे। केवल सूर्योदय से सूर्यास्त तक के काल में ही मुनि भोजन जल आदि ग्रहण करने का संकल्प (विचार या इच्छा कर सकता है - "उग्गएसूर अणत्थमियसकप्प।" इसी परंपरा को जैन संप्रदाय में प्रत्येक व्यक्ति ने अपना लिया जो आज भी विद्यमान है। जैन धर्म में प्रत्याख्यान की परंपरा में भी सूर्य को साक्षी रूप में माना जाता है। जैन शास्त्रों में एक विशेष शक्ति "तैजसलब्धि" की चर्चा भी बहुधा हुई है जिसे प्राप्त कर साधक अनेक चमत्कार दिखा सकता है। इस शक्ति को प्राप्त करने के लिये निरंतर छ: मास तक साधक द्वारा सूर्य की ओर मुख करके दोनों हाथ फैलाकर आताप लेने का विधान है।

भगवान मरीचि माली की महत्ता का प्रतिपादन भारतीय वाङ्मय की वह अमूल्य थाती है, जिसका आवश्यकतानुसार उपयोग कर भारतीय मेधा ने स्वयं को कृतकृत्य करने का प्रयास कितने ही युगों से किया है। वैदिक, पौराणिक तथा अन्य साहित्यों ने सूर्योपासना की अनेक विधियां तथा स्तुतियां समय-समय पर प्रशस्त की हैं। सर्वाधिक प्रसिद्ध "गायत्री मंत्र" वेदों की ही देन है जिसे वेदों की माता भी कहा जाता है। कालांतर में मंत्रों व स्तुतियों को सीमित कर आठ अक्षरों से बने मंत्र - ॐ घृणि सूर्य: आदित्योम्" को भी प्रशस्त किया गया किंतु सरल हृदय तथा अशिक्षित लोक समाज स्तुतियों के शाब्दिक जाल तथा मंत्रों की दुरूहता, जटिलता तथा उच्चारण आदि से दूर रहकर ही सूर्य को अर्घ्य दान, नेत्र मूंद कर सूर्य भगवान का ध्यान तथा पुन: शीश झुका कर नमन, केवल इतना ही करके वह सूर्योपासना को पूर्ण समझता है तथा अपने इष्ट देव की कृपा की अपेक्षा कर लेता है। अपने घर की भित्ति पर सातिया (स्वस्तिक) अंकित कर सूर्य को वहीं साकार कर लेता है; उस सातिये पर हल्दी व रोली के छींटे लगाये जाते हैं, पूजा की जाती है उसकी तथा उसको ही भास्कर समझकर सभी उसके सम्मुख नतमस्तक हो जाते हैं। **सुहागिन महिलाएँ पुत्र प्राप्ति के लिये रविवार तथा शुक्ल पक्ष में कार्तिक मास की छठी तिथि (सूरजछठ) को उपवास रखती हैं, सूरज की कथाएँ बड़ी बूढ़ी महिलाओं के मुख से सुनती हैं, सातिये को पूजकर उस पर जल चढ़ाती हैं, घर में बने पकवान द्वारा ही भास्कर का भोग लगाती हैं, शेष भोग को ही सूर्य-प्रसाद मानकर उसी को ग्रहण कर उपवास तोड़ती हैं।** पुत्र जन्म होने तक यह क्रम चलता रहता है। सूर्योदय तथा सूर्यास्त होते ही मंदिरों में शंख तथा घंटियों के स्वर गूंज उठते हैं। नगर हो या ग्राम, सभी जन भोर होते ही निद्रा, आलस्य तथा अकर्मण्यता का त्यागकर अपने अपने कार्य आरंभ कर देते हैं जिसे देख ऐसा प्रतीत होता है, मानो सूर्य देव रात्रि के अंधकार को हटाते हुए सारे विश्व को "कर्म" की ओर प्रेरित करते हैं, तभी तो ऋग्वेद में कहा गया है - "सूर्योत प्रेरयति कर्मणि लोकम"।

संपूर्ण जगत के कल्याण की सामर्थ्य जिस शक्ति पुंज में है उसे कौन नहीं पूजना चाहेगा। जो नहीं पूजते, सूर्य उनसे रुष्ट भी नहीं होते हैं, वरन उनको भी समान रूप से ही सुख प्रदान करते हैं। इसी कारण सर्वाधिक पूजित देवता यदि कोई है तो वह केवल सूर्य ही है जिसकी आराधना के लिये किसी प्रतिमा या देवालय की आवश्यकता नहीं वरन जिस स्थान पर इनकी एक किरण मात्र का पदार्पण हो जाता है वही पूजा स्थल बन जाता है, किंचित दृष्टि ऊपर उठाते ही भगवान भास्कर के उन्मुक्त

दर्शन हो जाते हैं। वे तनिक भी अभिमानी नहीं है, इतने सरल हैं कि धरती पर, जल से भरी छोटी-सी थाली में भी उतर आते हैं। सूर्य को अपना ईष्ट देवता और एकेश्वर मानने वाले व्यक्ति ''सौर'' कहलाते हैं, सौर सांप्रदायिक परंपरा के अंतर्गत ये लोग अपने कण्ठ में स्फटिक माल मस्तक पर रक्त चंदन का तिलक तथा लाल फूलों की माला भी धारण करते हैं, रविवार व संक्रांति के दिन भोजन में नमक का प्रयोग नहीं करते तथा सूर्य-दर्शन किये बिना जल ग्रहण नहीं करते।

सूर्य-प्रतीकों का प्रचलन सिंधु घाटी सभ्यता के पश्चात् प्रथम शती ई. पू. तक भारतीय संस्कृति में विद्यमान था, जिसकी अनुभूति प्रथम शती ई. पू. तक के प्राचीन सिक्कों के अध्ययन से हो जाती है। इन सिक्कों पर उक्त प्रतीकों से उद्भूत विविध रूप-आकारों को उत्कीर्ण किया गया है। मौर्य, सुंग, पाण्ड्य, कार्ड, क्षत्रप, तोरमान तथा अन्य राजवंशों के असंख्य पंच मार्कड सिक्कों पर सूर्य के प्राकृतिक रूप का स्पष्ट व निश्चित रूप से अंकित किया गया है; ऐरण (म. प्र.) से प्राप्त तीसरी शती ई. पू. के सिक्कों पर कमल उत्कीर्ण है; पांचाल राज्य के मित्र शासकों (२०० वर्ष ई. पू.-१०० वर्ष ई. पू.) द्वारा प्रचलित सिक्कों पर वेदिका समान पीठिका पर सूर्य, अग्निकुण्ड के समीप पीठिका पर सूर्य तथा आठ ग्रहों से घिरे हुए सूर्य को उत्कीर्ण किया गया है, परवर्ती काल में भीटा, बसाड़, सुनेत तथा राजघाट (उ. प्र.) में हुए उत्खनन से प्राप्त गुप्त शासकों के सिक्कों पर भी अग्निकुण्ड के समीप पीठिका पर सूर्य को प्रदर्शित किया गया है। अवन्ति (उज्जैन) से प्राप्त प्रथम शती ई. पू. के कई सिक्कों के पर एक साथ स्वस्तिक, बैल और चक्र के निरीक्षण से ईसा पूर्व काल तक सूर्य प्रतीकों के प्रचलन की निश्चित परंपरा की अनुभूति हो जाती है। सिक्कों के विस्तृत विवरण हेतु दृष्टव्य–डा. परमेश्वरीलाल गुप्त– ''कॉइन्स'' तथा एलैन – कैटलॉग ऑफ इंडियन कॉइन्स इन ब्रिटिश म्यूज़ियम''। मौर्य कालीन सम्राट अशोक के बनवाये स्तम्भों पर वृष (सिंह) तथा चक्र इन्हीं प्रतीकों से प्रेरित थे। जैन तीर्थंकर ऋषभनाथ का प्रतीक वृषभ तथा सुपार्श्वनाथ का प्रतीक स्वस्तिक ही था। श्रीराम, कृष्ण, विष्णु, बुद्ध तथा महावीर के दिव्य कायिम लक्षणों में सूर्य तथा स्वस्तिक को भी स्थान दिया गया है। मौर्य से गुप्त काल तक लोक समाज में आठ मांगलिक द्रव्यों की पूजा होती थी। जिनमें स्वस्तिक भी एक था। मथुरा क्षेत्र (उ. प्र.) में उत्खनन से प्राप्त दूसरी शती ई. काल के कई ''आयाम पट्ट'' तथा अन्य सामग्री पर अत्यंग कलात्मक ढंग से बाके रूप वाली ''स्वस्तिक'' आकृतियों को उत्कीर्ण किया गया है, यह पुरातत्व सामग्री राजकीय संग्रहालय-लखनऊ में संग्रहीत है, विस्तृत विवरण हेतु दृष्टव्य – ''मेरा ही लेख – ''कला तथा संस्कृति में जैन अष्ट मंगल'' – जैन सिद्धांत भास्कर-संख्या-२/१९८०। सूर्य-प्रतीकों को निरंतर प्राचीन तथा नवीन अनेक राजमहलों, दुर्गों, मंदिरों, राज सिंहासनों, राजकीय ध्वज-पताका, मुद्राओं तथा अन्य सामग्री पर अंकित किया गया है।

प्रथम शती ई. पू. के आरंभ होते ही सूर्य की मानवीय रूप में अभिकल्पना के नवीन प्रवाह ने भारतीय संस्कृति में भाव तथा सौंदर्य का अप्रतिम समावेश का शुभारंभ किया। मानवीय रूपधारी सूर्य-प्रतिमाओं में प्राचीनतम उपलब्धि-बोधगया में प्रथम शती ई. पू. कालीन प्रतिमा उल्लेखनीय है जिसमें चार ऋतुओं के प्रतीक चार घोड़ों द्वारा खींचे जा रहे, एक वर्ष के प्रतीक एक पहिये वाले रथ पर सूर्य आरूढ़ है, रथ के दोनों पार्श्व में एक-एक नारी-आकृति, प्रातः व सायं की प्रतीक ऊषा व प्रत्यूषा अंधकार को नष्ट करने के लिये अपने धनुष को प्रत्यंचा पर चढ़ाए हुए है तथा अंधकार के प्रतीक दैत्यकाय आकृति को रथ द्वारा कुचलते हुए उत्कीर्ण किया गया है। यह कलाकृति यद्यपि बौद्ध स्तूप की वेदिका पर स्थापित है किंतु इसका मूल भाव 'ऋग्वेद की उन पंक्तियों से प्रेरित है जिनमें सूर्य के रथ को १, ३, ४ अथवा ७ घोडों द्वारा खींचे जाने का संदर्भ है। लगभग इसी काल की ही एक दूसरी कृति

माजा (महाराष्ट्र) की बौद्ध गुफाओं में अवशिष्ट है जो उपर्युक्त बोधगया वाली प्रतिमा से साम्य रखती है जिसे सर्वप्रथम जॉन बरगेस ने पहचाना था, इसमें ऊषा व प्रत्यूषा क्रमशः छत्र तथा चँवर लिये हुए हैं। कालांतर में प्रथम शती ई. में खंडगिरी (उड़ीसा) की अनंतगुम्फा में भी इसी भाव को अभिव्यक्त करती हुई एक शिला पट्टिका है जिस पर सूर्य को दांये हाथ में कमल तथा बांये हाथ से चारों घोड़ों की लगाम पकड़े दिखाया गया है। ये गुफाएँ जैन धर्म से संबंधित हैं। दूसरी शती ई. की एक अन्य कलाकृति कानपुर (उ. प्र.) में लाला भगत स्थान से प्राप्त हुई है जो एक शिला स्तंभ की सतह पर उभारी गयी है तथा माजा व बोधगया वाली प्रतिमा से भाव-साम्य रखती है. कंनिघम के मतानुसार इस प्रतिमा का निर्माण जिस स्तम्भ पर हुआ है, वह उन सूर्यध्वजों में से एक है जिनकी परंपरा उस काल में "गरुड़ध्वज" की भांति विद्यमान थी (एलेक्जेन्डर कनिंघम – "आर्कियोलौजिकल सर्वे ऑफ इंडिया" एनुअल रिपोर्ट – १९२९-३०) इसी शती में निर्मित एक सूर्य स्तंभ का अवशिष्ठ अधोभाग नागार्जुन कोण्ड (आंध्र प्र.) से प्राप्त हुआ है, इस पर प्रतीक रूप में सूर्य को उत्कीर्ण किया गया है। उक्त प्रतिमाओं के माध्यम से प्रतीत होता है कि सूर्योपासना न केवल ब्राह्मण धर्म में, वरन् बौद्ध तथा जैन संप्रदायों में भी प्रचलित थी। इन प्रतिमाओं के शिल्प पर शक तथा यूनानी प्रभाव मिलता है। यहाँ स्मरणीय है कि सूर्य पूजा का प्रचार उस समय एशिया माइनर से रोम तक था, यूनान का सम्राट सिकंदर, स्वयं सूर्य का उपासक था। शक द्वीप ईरान में था, जहाँ "मग" नामक जाति के सूर्योपासक रहते थे। ईरान में मिथ्र (मिहिर) धर्म के अनुसार मिहिर देवता के दो पार्श्वचर थे– एक रश्न और दूसरा नरोफ, जो रूपांतरित होकर भारतीय सूर्योपासना में राज्ञी और निक्षुमा कहलाये थे तथा भारतीय साहित्य में सूर्य का पर्यायवाची "मित्र" तथा ईरानी मिथ्र, मिथिर व मिहिर समानार्थक हैं।

भारतीय कला तथा संस्कृति के क्षेत्र में विदेशी तत्वों के आगात का एक प्रवाह (यूनानी) सिकन्दर के आगमन के साथ हुआ तो दूसरा प्रवाह (शक) कुषाण शासकों के साथ आया था। सूर्य प्रतिमा लक्षण-अध्ययन में इन विदेशी तत्वों का विशिष्ट महत्व है।

शकों के आगमन के साथ ही सूर्य के विदेशी रूप विधान से भारत में अनेक प्रतिमाओं का निर्माण हुआ जो पूरे कुषाण काल तथा उसके बाद भी होता रहा। सिक्कों पर भी सूर्य के मानवीय रूप का प्रचलन कनिष्क के शासन काल में ही हुआ था जिन पर यूनान के सूर्य देवता हेलियोस तथा मिथर की प्रतिमाओं का प्रभाव था। इस विदेशी विधान के अंतर्गत सूर्य को पैरों में घुटने तक के जूते (गम बूट्स), बिरजिस, शिरस्त्राण (हेलमट), भारी चोगा, कमर में पेटी, हाथ में भारी खड्ग लिये हुए तथा सीधे खड़े हुए दिखाया गया था। यह विधान उदीच्य वेश कहलाता है। इन प्रतिमाओं में शक्ति, पौरुष, दृढ़ता तथा स्थिरता के भाव की अनुभूति होती है। ऐसी प्रतिमाएँ प्रायः उत्तरी भारत में ही अधिक मिली हैं तथा इनके निर्माण केंद्र प्रधानतः पेशावर (पश्चिमी पाकिस्तान), तक्षशिला में सलेटी पत्थर से बनी रथारूढ़ सूर्य प्रतिमा (इंडियन म्यूजियम-कलकत्ता-संग्रह सं. जी-५८); अफगानिस्तान में खैर खनेह नामक स्थान से प्राप्त, सफेद संगमर्मर से निर्मित रथ पर बैठे हुए सूर्य की प्रतिमा (चौथी शती ई. में निर्मित तथा काबुल संग्रहालय में संग्रहीत, विस्तृत विवरण – "जॉरनल ऑफ इंडियन सोसाइटी ऑफ ओरियंटल आर्ट" – वाल्यूम-१६ प्लेट-१४) तथा मथुरा से प्राप्त दो प्रतिमाएँ जिनके एक हाथ में खड्ग तथा दूसरे में कमल है, सिर पर चपटी पगड़ी सरीखा शिरस्त्राण है, सिर के पीछे परिकर (हालो) के रूप में सौर तश्तरी है तथा बैठने की मुद्रा कुषाण सम्राट जैसी है (मथुरा संग्रहालय-संग्रह सं. -डी. ४६ तथा २६९ विस्तृत विवरण हेतु दृष्टव्य-वी.एस. अग्रवाल – "ए कैटलॉग ऑफ ब्राह्मनिकल इमेजेस इन मथुरा" – पृष्ठ १६७)। इस शैली की मूर्तियों का निर्माण प्रथम से चौथी शती ई. तक होता रहा, इनमें एक पहिये वाले रथ के साथ दो या चार घोड़ों को दिखाया गया है, कालांतर में घोड़ों

की संख्या सात हो गयी जो सूर्य-रश्मि के सात रंगों के द्योतक हैं।

गुप्त काल (चौथी से छठी ई. तक) में भारतीय कला तथा संस्कृति ने अपना स्वर्ण युग देखा था. प्रत्येक कलाकृति अपने आप में ऐश्वर्य, गौरवपूर्ण सौंदर्य तथा दिव्यता की अद्वितीय रचना बन उठती थी; ललित साहित्य व शिल्प शास्त्रों में प्रशस्त कल्पित देवी देवताओं के रूप वैविध्य को अनेक कलाकार नयनाभिरामरूप-शिल्प में ढालकर भारत की धरती पर अवतरित होने को बाध्य कर रहे थे। यद्यपि इस काल में अन्य सांप्रदायिक देवी-देवताओं की प्राप्त प्रतिमाओं की संख्या की तुलना में सूर्य-प्रतिमाओं की संख्या बहुत कम है किंतु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि सौरोपासना का प्रवाह मंद हो चला था वरन वह शनैः शनैः अधिक परिपुष्ठ तथा विस्तृत होने लगा था। अनेक प्रतिमाएँ तथा देवालय समय-समय पर अहिंदुओं द्वारा ध्वंस होने तथा अन्वेषण न होने के फलस्वरूप अज्ञात ही रह गये। कलाकारों ने सूर्य प्रतिमा के रूप मंडन में नवीन तथा विविध आयामों का समावेश किया। मार्तण्ड के नये नाम से सूर्य को संबोधित किया जाने लगा; पंच देवोपासना तथा द्वादशादित्योपासना का समाज में प्रसार हुआ। कलाकारों ने सूर्य की कुषाण कालीन प्रतिमा शैली से विदेशी आवरण उतार कर सूर्य प्रतिमाओं को भारतीयता के साँचे में ढाल दिया था; रूप-प्रतिरूप, आकार-प्रकार, भाव-भंगिमा, वस्त्र-शस्त्र, अलंकरण-मंडन, पुष्प-प्रतीक, सौंदर्य-ऐश्वर्य, दिव्य-भव्य, प्रभामंडल, एकाकी सूर्य, सौर परिवार व सेवकगण– सभी कुछ अपने ही देश की धरती से प्रसूत उपादानों से सँवारा था अपने सूर्य देवता को। गुप्त कालीन कई महत्वपूर्ण प्रतिमाएँ लखनऊ तथा मथुरा स्थित पुरातात्विक संग्रहालयों में दर्शनीय है (मथुरा संग्रहालय – संग्रह सं. – ९३०, १२४, १२२१, २३१४, २५०७, १००७ व ३८८४ तथा लखनऊ संग्रहालय – संग्रह सं. २२३ ए) गुप्त काल के पश्चात मध्यकाल में लगभग चौदहवीं शती ई. तक गुर्जर प्रतिहार, परमार, मैत्रक, मैत्रक, चालुक्य, चन्देल, पाल, पल्लव, कलचुरि, राष्ट्रकूट, चौहान, चाहमान, सोलंकी, गंग, गहड़वाल, सेन तथा अन्य शासकों के आश्रय में सूर्य की ऐसी नयनाभिराम प्रतिमाओं का विशाल निर्माण हुआ कि जिनको देख ऐसा प्रतीत होता है कि यदि एक बार स्वयं सूर्य देव धरती पर अवतरित हो जायँ तो भी उनके चाक्षुष गुणों का पलड़ा इनकी तुलना में कुछ हल्का रह जायेगा। गुप्त कालीन शिल्पियों द्वारा प्रदत्त संस्कृति, सौंदर्य, भाव तथा शिल्प की उत्कृष्टता में मध्यकालीन शिल्पियों ने नवीनता, रूप-वैविध्य, चारूत्व, ऐहिक सौंदर्यानुभूति, संपन्नता तथा अनुकूल परिवेश का योगदान कर भारतीय संस्कृति को विश्व में सर्वोच्च स्थान पर स्थापित कर दिया। समाज में वैष्णव, शैव, शाक्त और गाणपत्य संप्रदायों का साहचर्य होते हुए भी धार्मिक सहिष्णुता तथा कल्पना के परिपाक से ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा सूर्य के मिश्रित रूपों से प्रसूत द्विमुखी, त्रिमुखी तथा चतुर्मुखी सूर्य-प्रतिमाओं का नवनिर्माण हुआ। सूर्य के साथ सेवक-गणों, पत्नियों, शेष ग्यारह आदित्यों, गणेश, अष्ठमात्रकाओं, कार्तिकेय, कीर्तिमुख, छः ऋतुओं के अतिरिक्त बारह राशियों, नौ ग्रहों तथा अन्य आलंकारिक आकृतियों का निर्माण हुआ। शिल्पियों को निर्देश हेतु कई शिल्प वाङ्मयों की रचना हुई, यथा — अंशुमदभदागम, सुप्रभेदागम, बृहत्संहिता, शिल्परत्नम्, विश्वकर्माशास्त्रम्, अग्निपुराणम्, विष्णुधर्मोत्तर पुराणम्, अपराजितपृच्छा, मत्स्यपुराणम्, पूर्वकारणागम, तथा रूपमंडन आदि। विपुल पुरातत्व सामग्री से प्रमाणित होता है कि इस काम में सूर्य पूजा का व्यापक तथा निष्ठापूर्ण प्रचलन कश्मीर, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश तथा गुजरात तक विस्तृत था। दक्षिणी भारत में यद्यपि सूर्य-पूजा की व्यापकता उत्तरी भारत की अपेक्षा कुछ कम थी किंतु ७ वीं शती ई. कालीन गुडिमल्लम् स्थित परशुरामेश्वर मंदिर, महाबलिपुरम, त्रिचिनापल्ली की गुफा, कुम्भकोणम् के मंदिर, बादामी, एलोरा (८वीं शती), दुर्गा मंदिर (आइहोल, जि. बीजापुर), पत्तडकल के लाड़खान और पापनाथ मंदिर, सूर्यनारकोइल (जि. तंजौर) का

कलोत्तुंग चोल मार्तण्डालय (११ वीं शती) तथा आलमपुर (आंध्रप्रदेश) के मंदिर से प्राप्त सूर्य प्रतिमाओं के माध्यम से दक्षिणी भारत में भी सूर्य के प्रति लोक-आस्था की अनुभूति हो जाती है। भारत भूमि पर मध्यकाल के अंत तक सहस्रों, एक से बढ़कर एक, सुंदर प्रतिमाएँ सौर बन चुकी थीं, जिनमें से चार प्रतिमाएँ सर्वोत्कृष्ट मानी गयी है। – प्रथम है, कोणार्क से प्राप्त सूर्य-मूर्ति जो संप्रति उड़ीसा स्टेट म्यूज़ियम भुवनेश्वर में सुशोभित है। दूसरी कलाकृति सुखबासपुर (ढाका) से प्राप्त हुई थी तथा आज यह ढाका म्यूज़ियम (ढाका, बंगलादेश) में सुरक्षित है, तीसरी सूर्य प्रतिमा मोधेरा (गुजरात) के सूर्य मंदिर से प्राप्त हुई है, तथा चौथी सूर्य प्रतिमा बंगाल में संथाल परगना क्षेत्र में राजमहल पहाड़ियों से उत्खनित कर प्राप्त की गयी थी तथा संप्रति विक्टोरिया एंड अलबर्ट म्यूज़ियम (लंदन) को गौरवान्वित कर रही है। उक्त चारों प्रतिमाएँ उत्तर मध्यकाल (११ वीं-१३ वीं शती ई.) में निर्मित हुई थीं। सूर्य संबंधी अनेक उत्कृष्ट कला-कृतियाँ देश-विदेश के अनेक संग्रहालयों में निर्मित हुई थी।

□

विराट कालफलक पर 'करवट'

डॉ. गंगाप्रसाद विमल

हिंदी उपन्यास अपनी यात्रा के सौ वर्ष पूरे कर चुका है। आरंभ के अविश्वसनीय, प्रकल्पनात्मक उपन्यासों से आज के बेहद जटिल माहौल को सांकेतिक पद्धति से व्यक्त करने वाले उपन्यासों के बीच हम जीवन के विभिन्न परिवर्तनों को आँक सकते हैं। प्रौढ़त्व के जिस शिखर पर उपन्यास पहुँचा है उसमें आसानी से उपन्यास के कौशल में जो परिवर्तन हुए हैं उसकी झाँकी भी देख सकते हैं। इस संदर्भ में निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि नागर जी का नवीनतम उपन्यास ''करवट'' हिंदी उपन्यास धारा की उस शिखरवर्ती प्रौढ़ता का प्रमाण है जिसके कल्पनापूर्ण अभाव पर बहुतेरे लोग टिप्पणियाँ करते रहते हैं। यह संदेह से परे है कि हिंदी के उपन्यास एक शताब्दी के भारतीय जीवन को उसकी समग्रता में अंकित करते रहे हैं। उपन्यास की इस दायित्वपूर्ण धारा में प्रेमचंद, राहुल सांकृत्यायन, जैनेंद्र, रांगेय राघव, हजारीप्रसाद द्विवेदी, इलाचंद्र जोशी, यशपाल, अज्ञेय, फणीश्वरनाथ 'रेणु', राजेंद्र यादव, कमलेश्वर, मोहन राकेश, उपेंद्रनाथ अश्क, मन्नू भंडारी, मन्मथनाथ गुप्त, राजेंद्र अवस्थी, जगदंबा प्रसाद दीक्षित, रामदरश मिश्र, निर्मल वर्मा, विष्णु प्रभाकर, शानी, रमेश बक्षी, श्रीलाल शुक्ल, राही मासूम रज़ा, नरेश मेहता से लेकर न जाने कितने नाम अपना योगदान दे चुके हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी उपन्यास वैश्विक धरातल पर उपन्यास रचना के पेचीदे, हताशापूर्ण, संघर्षमय मार्ग पर चलकर अपनी पहचान के एक पड़ाव पर आ पहुँचा है। आज बहुधा यह ध्वनि कई हलकों से सुनाई पड़ती है कि हिंदी उपन्यास को अपना मुहावरा नहीं मिला है। यह आरोप ''अरण्यरोदन'' के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। उपन्यास और बड़े काव्य की गरिमा के अनुरूप, अपनी विशिष्ट पहचान बनाने का काम उपन्यास ने किया है। फलत: एक बड़े फलक पर भारत के वैविध्यपूर्ण वास्तव का चित्रण संभव हुआ। गरज़ यह कि एक परंपरा से चले आ रहे कथा लेखन में कुछ न कुछ नया जोड़ने का काम प्रत्येक उपन्यासकार ने किया है। तथापि इस अर्थ में अमृतलाल नागर का नाम संभवत: एकदम अकेला है, जिनके उपन्यासों में एक ''क्लासिकीय'' गरिमा से मंडित, जीवन के विराट, व्यापक वस्तुपरक को चित्रांकित किया जाता है। 'करवट' में नागर जी ने अपने पूर्व उपन्यासों की कथा, कथाशिल्प और 'सृजन' के दूसरे पक्षों में क्या नया अन्वेषित किया होगा— यह

तो सहज जिज्ञासा है ही परंतु क्या लेखन की किसी नयी प्रयोजनीयता, किसी नयी विमा (डायमेंशन) की भी खोज है – यह एक ऐसा प्रश्न है, ऐसी जिज्ञासा है (जिसमें अनेक प्रश्नो की भावपरक उपस्थिति केवल प्रश्नाकूलता के एकत्वपूर्ण अहसास में होती है) जिसका उत्तर कृति में ही खोजा जा सकता है।

'करवट' को सहसा ऐतिहासिक उपन्यास मानने के पीछे क्या तर्क हो सकता है? यही कि यह उपन्यास पिछली सदी का उपन्यास है? क्या हर उपन्यास या कथा 'व्यतीत' की सामग्री पर आधारित नहीं होती? इस दृष्टि से तो समग्र कथा लेखन ऐतिहासिक लेखन है। **इतिहास की सामग्री को जब आधार बनाकर कोई रचना की जाती है तो वह ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है।** एक ऐसी कृति जो तथ्यों के अनुरूप ही अपने लक्ष्य को स्पष्ट करती हो और पूर्वज्ञात निष्कर्षों का ही समर्थन करती हो, उसे तो इतिहास की आवृति के रूप में ही देखा जा सकता है। परंतु जो कृति इतिहास के अंधेरे में किसी मानव सत्य को उद्घाटित करती हो उसे न तो ऐतिहासिक कहा जा सकता है न काल्पनिक। इतिहास की अंधी गुफाओं में से एक सार्थक सत्य चुनना काफी कठिन काम है। कभी-कभी बहुत डरावना काम भी है। यह एक ऐसा शोध है जिसमें हम अपने अतीत के पिछड़ेपन, सामाजिक मान्यताओं की कीमत और अमानवीय आचरण विधि, अविकसित मानस की तस्वीर तो पाते हैं साथ ही साथ देखते हैं कि निरर्थक-सी कर देने वाली सामाजिक मान्यताओं की बीमार और अमानवीय आचरण विधि कितनी क्रूरता से मनुष्य को प्रभावित और संचालित करती है। ऐतिहासिक कृतियाँ बहुधा उपलब्ध तथ्यों के आलोक में ही वह सीमित सा सत्य सामने रखती हैं जो एक बडे एकांश का भाग होता है इसकी उपेक्षा अनुसंधान की वृति से किसी महीन, अव्याख्यायित सत्य को अनावृत कर भाषा में रूपांतरित करने का काम वास्तव में एक छोटी-सी आँख से बड़ी, विराट दुनिया की प्रतीति देने वाला काम है।

'करवट' की कथा लखनऊ की लक्खी सराय से आरंभ होती है। बस एक विवरण, या कथा संकेत ही उसके समय का निर्धारण करता है। और वह संकेत है **हैदरीखाँ** का अस्तबल। अस्तबल की उपस्थिति, उसके रख-रखाव के विवरण, उसकी आवश्यकता आदि कुछ ऐसे पक्ष हैं जो स्पष्ट कर देते हैं कि हम किस समय के देश-प्रदेश की चर्चा कर रहे हैं। लखनऊ में आज ये जगहें हों या न हों – पाठक के लिए महत्व की बात यह नहीं है। महत्व है उस ऐतिहासिक परिदृश्य का जो सांकेतिकता से उभरता है। विवरणों तथा वक्तव्यों से उभरने वाला सत्य उतना जीवंत और अर्थवान नहीं होता जितना कि संक्षिप्त विवरणों के संकेतों से उभरने वाला 'सत्य' होता है। कहना पड़ेगा 'सृजनात्मकता' का संवेद्य रूप एक रचाव है जो **अमृतलाल नागर** के समस्त लेखन की विशेषता है। 'करवट' के कथारंभ में ही हमें उस संवेद्य सांकेतिकता का परिबोध हो जाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के भारत के अवशेष देखकर हम उस काल के जीवन रूप की केवल कल्पना ही कर सकते हैं। नागर जी ने 'करवट' में हिंदुस्तान को जिस रूप में करवट लेते देखा है– उसमें तो बचे-खुचे अवशेषों में भी जैसे जीवंत मूर्ति रेखा झिलमिला जाती है। यह करवट सामंतशाही की आखिरी साँसों को गिनते हुए पूँजीवाद और साम्राज्यवाद की नई चालों में हमें घेरती है। आज अगर हम किसी से कहें कि साम्राज्यवाद की स्थापना के पीछे एक सुदृढ व्यापारिक दृष्टि कार्य करती है तो इसे लोग एक अकादमिक वक्तव्य कहेंगे, किंतु करवट में हम उस अंग्रेज कौम की मुख्य रणनीति से परिचित होते हैं जो धीरे-धीरे भारतीय रजवाड़ों में हस्तक्षेप कर उन्हें सुस्त करती है और जनता को अपने नये साम्राज्यवादी ढाँचे में कसती है। जहाँ इस कसाव के प्रति प्रतिरोध होता है वहाँ 'न्याय' के नाम पर क्रूर दमन चलता है। जब दमन और शोषण काम नहीं करते तब उसी क्षेत्रीय परिसीमा में

अंग्रेज मस्तिष्क दो धार्मिक इकाइयों के बीच तनाव पैदा करवाते हैं और एक न्यायिक की भाँति अपना स्थान सर्वोच्च बना डालते हैं। सदियों से साथ रहने, साथ खाने और साथ-साथ एक दूसरे के उत्सवों में उत्साहपूर्वक सहअस्तित्व के मानवीय मूल्य के आधार पर सक्रिय वर्गों में नये ढंग से ही विभेद पैदा करने की यह नीति आगे चलकर कारगर होती है। इतनी कारगर कि जैसे आज भी हमें अपने बीच न्याय के लिए शोषकों, पर-सत्ताओं की ओर देखना पड़े। अंग्रेजों ने जनता के बीच हस्तक्षेप के जो नायाब तरीके निकाले थे उन्हें नागर जी ने अपनी 'रचाव' क्षमता और कौशल से बहुत ही अद्भुत ढंग से चित्रित किया है। 'करवट' में अंग्रेजों की यह रणनीति एक 'काव्य सत्य' की तरह धीरे-धीरे खुलती है। वंशीधर अर्थात तनकुन महाशय, अपनी महत्वाकांक्षा के वशीभूत हो कैसे स्थानीय अंग्रेजों के संपर्क से कलकत्ता पहुँचते हैं और पुरानी पोथियों को बेचकर कुछ अरसा धन कमाते हैं – केवल इतने ही विवरणों के बीच अंग्रेज कौम एक जाति के रूप में अपनी सत्ता-लोलुप मानसिकता से बखूबी उजागर हो जाती है। कथाक्रम में मुख्यकथा के रेखांक वंशीधर उर्फ तनकुन के मुताबिक निर्मित होते हैं। वह एक महत्वाकांक्षी युवक के रूप में हमारे सामने आता है जिसे किसी न किसी विधि से कोई उच्चता प्राप्त करनी है। वह पहले अवध के अंतिम बादशाह के अंतरंग लोगों का हितैषी बनता है लेकिन कालक्रम में जब बादशाह की स्थिति अंतर्कलह और अपनी अक्षमता से विपरीत हो जाती है तो तनकुन का संपर्क अंग्रेजों से होता है। वह अंग्रेज हाकिमों के सहारे आगे बढ़ता है। अपने परिवार के भीतरी विश्वासों, अंधविश्वासों के प्रति संदेह करने वाला तनकुन कई प्रगतिशील कदम उठाता है तथापि वह किसी न किसी रूप में अपने संस्कारों की जकड़ में रहता है। यही तनकुन कलकत्ता पहुँचकर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर फिर अंग्रेजों के सहयोग से लखनऊ में नई शिक्षा के विद्यालय को खोलता है और धीरे-धीरे अंग्रेजी हकूमत के शिक्षाधिकारी के रूप में सेवानिवृत होता है। कथा की इस मुख्यधारा से एक दर्जन कथाएँ निकलती हैं। वे कथाएँ एक ओर हमारे सामाजिक जीवन की जटिलताओं, उन जटिलताओं के घनघोर अंधेरों से उत्पन्न समस्याओं को संकेतित करती हैं तो दूसरी ओर बाहर से आई गोरी जाति के व्यापारिक मानस की धैर्यपूर्ण स्थिति और उनके भावी स्वरूप को संकेतित करती है। ईस्ट इंडिया कंपनी का वर्चस्व कैसे बढ़ता है, वह व्यापारिक कंपनी किस तरह भारत की भूमि में अपने व्यापारिक हितों के लिए सक्रिय रहती है – इसके वृतांत इतने चित्रात्मक हैं कि कभी-कभी मुझे एक पाठक की हैसियत से लगता रहा कि मैं क्या कोई लंबा स्वप्न देख रहा हूँ या 'ल्यूब्र' के विश्व-प्रसिद्ध संग्रहालय में घूम रहा हूँ। **वैविध्य, जीवंतता, चित्रात्मकता, संवेदनात्मकता के विभिन्न पहलुओं से रची कृति 'करवट' क्लासिकी किस्म के उपन्यासों की तरह बेजोड़ कृति है।**

'करवट' का कालफलक बहुत विराट है। उसमें न सिर्फ 'देश' में नये परिवर्तन आ रहे हैं बल्कि पुरानों की जगह लेने वाली नई चीजों में सतत परिवर्तनशीलता जारी है। अवध के सम्राट की जीवनावधि और कंपनी सरकार से एकदम साम्राज्यवादी सत्ता में तब्दीली कुछ ऐसे बिंदु हैं जो स्पष्ट करते है कि नयेपन में किस किस्म की तीव्रता है। वाजिद अलीशाह के लखनऊ के चित्रण में नागर जी ने राष्ट्रीय महत्व का जोड़ तो लगाया है पर एक वस्तुनिष्ठ अनुसंधाता की तरह उन्होंने यह भी बताया है कि रात-दिन नाच गानों, महफिलों में डूबे रहने वाले राजविलास का प्रभाव जनता के क्रियाकलापों पर भी पड़ा था। वहाँ बटेरबाजी, पतंगबाजी, घुड़सवारी, मेले, तवायफों के नाच, विवाह-शादियों का आडंबर, धार्मिक उत्सवों की अर्थहीन सक्रियता— ये सब चीजें आर्थिक पुनरुत्पादकता की शक्ति से हीन थी। यह आडंबर एक झूठ था— उसमें न कहीं आगे बढ़ने की ऊर्जा थी न समाज के विकास, आर्थिक स्रोतों के नवीनीकरण की वह आग थी जो कुछ ही वर्षों में अंग्रेजों के आने से आरंभ हो गई थी।

यह आग सिर्फ सत्ता के बदलाव के रूप में 'वायसरीगल' किस्म के आलीशान बंगलों और अफसरों की जीवनचर्या में सीमित नहीं थी वरन् इसने अपनी लपट में हमारे पुराने विश्वास, रीति रिवाज, रंग-ढंग तथा तमाम दूसरी चीजों को लिया था। तब पहली बार यह अहसास होता है कि हम दुनिया के आगे बढ़ते परिवर्तनों से कितने पीछे थे। 'तनकुन' (इस उपन्यास के नायक) के निजी अनुभवों में हम पाते हैं कि कलकत्ता इस अर्थ में बहुत आगे था क्योंकि वहाँ अंग्रेजों और 'ईस्ट इंडिया कंपनी' की गतिविधियों ने बहुत पहले बंगाली भद्र-समाज को प्रभावित किया था– लेकिन इतिहास के इस तथ्य की उदघोषणा नागर जी नहीं करते अपितु कथा-विन्यास में यह स्पष्ट होता है कि अंग्रेजी प्रभाव से बढ़ने वाले ब्राह्मो समाज ने जिस ढंग से संस्कृति और आचार-व्यवहार की व्याख्याएं की तथा एक मानवीय पहलू यह उदघाटित किया कि **सोई जाति का भाग्य भी सोया रहता है— उसका जागना वास्तव में विभिन्न अंतर्धाराओं के टकराव से निर्मित नव्यता है जिसके अभाव में पूर्वीय जन समाज केवल कर्बालाई संस्कृति में ही जा रहा है।** वास्तव में तथ्यों की ये नई व्याख्याएँ लेखक के उस 'मिशन' का हिस्सा हैं जो नागर जी के दूसरे उपन्यासों में भी दीखता है।

उपन्यास में उन्नीसवीं शताब्दी के परिवर्तन सहसा नहीं दीखते बल्कि उनके पीछे एक संगठित शक्ति है और वह शक्ति बहुत क्रूरता से स्वयं को स्थापित करती है। वह जनता की स्वाधीनता संबंधी कामना पर प्रहार करती है और उसके स्वीकृत मानदण्डों की हँसी उड़ाती है। वंशीधर सोचता है कि ''सत्ता के राजमुकुट पहने हुए संगठित डाकुओं से हमारा एक बादशाह त्रस्त और विवश होकर अपनी गद्दी छोड़कर भाग गया।.... एक ही क्या हिंदुस्तान भर के तमाम राजे महाराजे और शाह ही नहीं बल्कि शाहंशाह तक सब अंग्रेजों की चालबाजियों से विवश हैं, यह एक नये ढंग की राजनीति पुराने सियासतदारों को उठा-उठाकर बराबर पछाड़ती और उन्हें पस्त हिम्मत करती चली जाती है। यह लोग हमारे लोगों में फूट डालकर राज हथियाते हैं। लेकिन हम फूटते क्यों हैं? — संगठित होना क्यों नहीं जानते?'' वंशीधर के इस अंतर्मंथन में भविष्य में 'स्वराज्य' की परिकल्पना का संकेत छिपा है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कांग्रेस का उदय, नयी स्वाधीन कामना के अंतर्गत नये नये राजनैतिक रंग उभरने लगे थे। वस्तुतः 'करवट' में राजनैतिक करवटों का एक सिलसिला जैसा दिखाई देता है।

भारतीय जन समाज जातियों, उपजातियों, गोत्रों और फिर बहुत ही महीन पवित्रतावाची वंश कुलों के रूप में इतना विभाजित है कि कभी-कभी अहसास होता है कि इस विभाजन का इस्तेमाल करना बहुत ही आसान है। और यह होता भी है। हमारे 'सवर्ण' भाइयों के अहंकार ने निम्नवर्ण को अलगाने का काम किया तो सवर्णों में भी ऊँच-नीच के भेद ने पूरी जातीय इकाइयों को संकीर्णता के उस नरक में पैठा दिया जहाँ से उबरना नामुमकिन-सा है। इसके दूसरे पहलू भी हैं जिनसे भारतीय समाज के पतन के वैज्ञानिक आधार स्पष्ट हो सकते हैं। भारतीय जन-समाज जातियों की जटिलताओं से आक्रांत है। वहाँ वैचारिक क्रांतियाँ अपना प्रभाव अवश्य छोड़ती हैं परन्तु वह प्रभाव पूरे समाज को आमूल परिवर्तन की ओर नहीं ले जाते। इसके प्रयोजन का एक ही बिंदु हमारे समक्ष है कि भारतीय संस्कृति की गतिशील धारा को गतिहीन करने के ये ही कुछ प्रमाण हैं अवरोधों के अवशेष। परन्तु क्या इनसे भारतीय समाज कभी अतीत में या निकटस्थ वर्तमान में उबरा है? ऐसे कुछ अन्य प्रश्न भी 'करवट' की मार्फत सामने आते हैं और हम अपनी सांस्कृतिक पतन-गाथा के संदर्भ में उन पर पुनर्विचार करना होगा। क्योंकि नागर जी ने उसे एक इतिहासज्ञ की भाँति खोजकर यह संकेत देने का जोखिम उठाया है।

प्रश्न भी 'करवट' की मार्फत सामने आते हैं और हमें अपनी सांस्कृतिक पतन-गाथा के संदर्भ में उन पर पुनर्विचार करना होगा। क्योंकि नागर जी ने उसे एक इतिहासज्ञ की भाँति खोजकर यह संकेत देने का जोखिम उठाया है।

'करवट' उन्नीसवीं सदी के बीसवीं सदी में प्रवेश की एक त्रासद गाथा है। यह त्रासदी उन क्लासिकी कृतियों में इसे जगह दिलाती है जो मानव सृजन के शिखर हैं। हिंदी में **बाणभट्ट की आत्मकथा**, यशपाल के **झूठा सच** और रेणु के **परती-परिकथा** में जो प्रयत्न किए गये हैं शायद '**करवट**' में औपन्यासिक कौशल के रूप में वे पूर्णता पाते हैं। क्षेत्रीय सांस्कृतिक इकाइयों के विविधवर्णों का संयोजन एक कठिन काम है। उसे नागर जी ने संभव बनाया है। न सिर्फ भाषा या देशज आचरण बल्कि प्रकृति में भी जैसे वही एक क्षेत्रीय अनुभाव टंगा हो जिसे यथावत् नागर की एक चित्रकार की तरह शब्दों में रूपांतरित कर रहे हों। प्रकृति के प्रति जो सार्थक संवाद रेणु ने स्थापित किया था, जीवंत पर्यावरण के साथ वही अंतरंग संबंध 'करवट' में दीखता है। क्या यह हमारे औपन्यासिक सृजन का नया रूपाकार है? इसलिए भी कि मनुष्य, प्रकृति और मानवीय-स्थितियों के परिवर्तन लाने की चाह के अगोचरत्व के बीच यह नया तालमेल है।

'करवट' इतिहास नहीं है — वह पीढ़ियों के विकास का नैसर्गिक संचरण है। उसमें आशा-निराशा, प्रेम-क्रूरता, हत्या-ममत्व, प्रतिहिंसा-संरक्षा, सौंदर्य और वीभत्स जैसे असंख्य युग्म हैं जिनमें धीरे-धीरे मनुष्य की मानवी-कांक्षा परिष्कृत होती दीखती है। वह हमारी त्रासदी आशा सूत्र को हमारे हाथों में देने वाला एक आत्मान्वेषण है। □

करवट (उपन्यास)/लेखक-अमृतलाल नागर/प्रकाशक-राजपाल एण्ड संस, दिल्ली-११०००७/मूल्य-साठ रूपये/पृष्ठ-३५९।

नयी आशाओं की तलाश 'उत्तरगाथा'

डॉ. रणजीत साहा

समीक्ष्य उपन्यास का प्रकाशन चाहे जिस कारण से भी हो, काफ़ी विलंब से हुआ है। लेकिन आज जबकि हम अपनी आज़ादी की चालीसवीं वर्षगाँठ मनाने जा रहे हैं, इस उपन्यास की तीव्रता और उठाये गये प्रश्नों की प्रासंगिकता और भी बढ़ गयी दीखती है।

दरअसल आज़ादी के आठ-दस वर्षों बाद ही, इसका मूल्यांकन शुरू हो गया था। राष्ट्रीय संकल्प और सर्वस्व त्याग के बावजूद देश का कोई सामूहिक चरित्र नहीं बना। गांधी जैसे व्यक्तित्व की हत्या के बाद इसे दिशा देने वाला कोई प्रेरक राजनैतिक और सांस्कृतिक पुरुष पैदा नहीं हुआ। १९४७ से लेकर १९५७ के बीच इसी दिशाहीनता लेकिन स्वार्थान्धी दौड़ में शामिल एक छोटे से गाँव के लोगों का चारित्रिक पतन और स्खलन ही इस उपन्यास का कथा-बिंदु है। इस कथावृत्त के द्वारा सार्वजनिक व्यक्तित्व और संस्था के ''व्यक्तित्व'' बन जाने का अभिशाप ही वर्णित है। यह दर्शाया गया है कि कैसे व्यक्ति समूह से कटकर अपने स्वार्थ की पूर्ति कर रहा है – देश और संस्था की कीमत पर।

आज़ादी के तत्काल बाद, गाँव-गाँव में पंचायत और ग्राम समितियों के निर्माण की प्रक्रिया शुरू हुई ताकि देश की लघुतम इकाई को आत्मनिर्भर बनाया जा सके। बुनियादी शिक्षा, सहकारिता संस्थाएँ, खादी आश्रम, ग्राम सभा आदि के संस्थापन और संचालन का भार स्वतंत्रता-सेनानियों, स्वयंसेवकों और कांग्रेसियों को सौंपा गया। दूसरी पार्टियों के कार्यकर्ता भी सक्रिय रहे और इन सबके कंधे पर देश के नव-निर्माण का भार सौंपा गया।

ऐसे ही एक समर्पित स्वतंत्रता-सेनानी गोपीचंद को यह दायित्व दिया गया कि वे अपने क्षेत्र के बहुविध उत्थान के लिए पार्टी निर्देशों के अनुरूप कार्यक्रम बनायें और उन्हें लागू करें। उपन्यास की कथा-यात्रा यहीं से आरंभ होती है। गोपीचंद के जीवन में स्वतंत्रता की जो चिनगारी १९३० में लगी थी, वह १९५७-५८ की क्रांतिकारी लपटों में प्रचंड होती है और १९५७-५८ की खाक पर जाकर ख़त्म होती है। तरुणाई का वह सपना जिसमें, ''भारत आजाद होगा। सुराज मिलेगा। हर आदमी अपना पेशा चुनने के लिए स्वतंत्र होगा। समाज से ज़ोर-जुल्म, शोषण खत्म हो जायेगा। लोग आपस में भाई-भाई की तरह मिला करेंगे। सभी सुखी होंगे.... सभी प्रसन्न होंगे।'' (पृष्ठ १)

लेकिन ये पवित्र संकल्प, राष्ट्रीय नेताओं का बलिदान, स्वतंत्रता-सेनानियों का त्याग और नये राष्ट्र का संविधान उन लोगों के लिए कोई अर्थ नहीं रखता था जो केवल सत्ता चाहते थे, जिन्होंने सेवा, आदर्श और मूल्य को ताक पर रख छोड़ा था और लूट के लिए एक अंधी दौड़ में शामिल हो गये थे और जो इसमें शामिल नहीं हो पा रहे थे वे किसी प्रतिकार के अभाव में एक तरह से ऐसी शक्तियों

को बढ़ावा दे रहे थे। ऐसे समर्पित लोगों को अपनी आड़ और ओट किए एक ऐसा तबका सामने आ गया, जिसे कोई चुनौती नहीं दी गयी; जो पुल-सड़कें और नहर बनाने के नाम पर अपनी कोठियाँ बनाने लगे, सामुदायिक और प्रखण्ड-विकास के नाम पर, खादी और ग्रामोद्योग के बहाने, ग्राम विकास और कल्याण-आश्रम की आड़ में अपना उल्लू सीधा करने लगे।... और अगर इस काम में धर्म उनकी सहायता कर सकता था तो दंगे, फूट और आगज़नी के सहारे उसका भी भरपूर फ़ायदा उठाया गया। भला कैसे?

कथाकार **मधुकर गंगाधर** ने इस सारे सवालों को बिहार के उत्तर-पूर्व स्थित पूर्णिया ज़िले के सोनारी गाँव की छोटी-सी पृष्ठभूमि में उठाया है। सरकार और संस्थाओं द्वारा चलाये गये विभिन्न कार्यक्रमों और साधनो की पवित्रता के बावजूद, इस अंचल में भी ऐसे तत्व सक्रिय थे जो जातिवाद, प्रभुत्व और डण्डे के ज़ोर पर हर तरह का लाभ उठाना चाह रहे थे – देश की सेवा और राष्ट्रभक्ति के नाम पर। इस अंचल विशेष के संदर्भ में कथाकार का अपना दृष्टिकोण यह है कि "मुख्य रूप से, इस परिवर्तन का कारण था – सर्वे। इसने पिछले चालीस-पचास वर्षों के बने सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे को चरमरा कर रख दिया।.... ज़मीन वालों के मन से "और अधिक" का भाव समाप्त हो गया और भूमिहीनों के मन में "और अधिक" का भाव जागा। समाज का मानसिक चक्का कुल दो वर्षों में बुरी तरह उलट गया। गाँव का भाईचारा एक-ब-एक समाप्त हो गया। पुराना समाज स्नेह-सौजन्य पर आधारित था। नया समाज नियम-कानून पर बना। पूरे गाँव में द्वेष और ईष्या का वातावरण दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया।" (पृष्ठ ८३)

यही द्वेष, "जतियारी" और "लाठी" सारे संकल्प और कार्यक्रम को ले डूबती है। हरिजन और अछूत उद्धार का विरोध होता है और एक स्थान पर कथा नायक गोपीचंद "ब्राह्मण-पुत्र और हरिजन-कन्या" के प्रेम-प्रसंग का सामना नहीं कर पाते और अकबरपुर का ज्ञानकेंद्र छोड़कर सोनारी आ बसते हैं। यहाँ भी, ज़मीन पर मालिकाना हक जताने के लिए गाँव में छोटी-छोटी बातों पर आगज़नी होती है, सर फुटव्वल होती है और ऊँची जात वाले नीची जातवालों को अपनी जूती के नीचे दबाकर रखना चाहते हैं। अब इनके सामने कोई बाहरी दुश्मन नहीं। अपने गाँव-जवार के जाने-पहचाने लोग ही अधिकार मद में चूर, विषधर बने घूमते हैं। व्यक्ति को सार्वजनिक बनाने का संकल्प ढहता जा रहा है हालाँकि चर्खा यज्ञ, सूत-यज्ञ, अस्पृश्यता दूर भगाओ और सबसे बढ़कर विनोबा जी का भूदान-यज्ञ बाहरी तौर पर बड़ा प्रभावी दीखता है। लेकिन सच तो यह है कि सार्वजनिक संस्थाओं और ग्राम-संपत्ति का उपयोग निजी हितों के लिए गुंडों के ज़ोर पर किया जाने लगा है। जिस पर अधिकार न जमा सको उसे फूंक-ताप दो... जो रास्ते में आये उसे मार डालो। यह तो ऐसा ही कुछ था जिन्ना की धमकी की तरह, "या तो भारत के टुकड़े करेंगे या मुल्क को नेस्तनाबूद कर दिया जायेगा।" (पृ. २१)

यह सब देखकर गोपीचंद मामा मन-ही-मन घुटते हैं। गाँव का राजपूत वर्ग, जिसके सरगना हैं जगदंबा सिंह,; और ब्राह्मण वर्ग, जिसके अगुआ हैं, भोगानंद झा – दोनों में बरसों से चले आये वैमनस्य को ज़मीन और जोत का मालिकाना हक को लेकर खुली लड़ाई लड़ी जाती है। और वह भी प्रयाग सिंह नाम के एक गरीब किसान के बाप की मौत पर आयोजित श्राद्ध के बहाने। एक छोटी-सी बात पर सारे गाँव का सौहार्द्र मटियामेट हो जाता है कि श्राद्ध के दिन चूड़ा-दही नहीं – गाँववालों को पूड़ी खिलाई जाय। ब्राह्मण बनाम ठाकुर के इस विवाद में गोपीचंद के सपने का आश्रम — रतनझरिया आश्रम, जिसे जबरन भवनाथ चौधरी (पुराने सर्वोदयी) सर्वोदय आश्रम का नाम दे दिया जाता है — उद्घाटन के दिन वाली रात में ही फूंक दिया जाता है। चौधरी के सारे कार्य नाम और

अधिकार की भूख से ही संपन्न होते हैं, सेवा हो जाय तो हो जाय। इस आश्रम की आड़ में खलिहान जोगते और खेती के दूसरे काम के लिए बना-बनाया पक्का घर पा लेने की तैयारी है। आश्रम के फूंक जाने पर सारे देश को गांधी-विनोबा और जयप्रकाश के सपनों का भारत बनाने वाले आत्म-बलिदानी गोपीचंद मामा बुझे हुए शब्दों में बोल उठते हैं, ''लगभग पैंतीस वर्षों से हाथों में झाड़ू है और गंदगी, मलबे और राख की सफ़ाई में लगे हैं। सैंतालीस के पहले पूरे देश के लिए यह सब करता था। बाद में जिले के लिए, और फिर सोनारी के लिए करने लगा। आज पता चला कि यह भी गलत है। सोचता हूं, मात्र इतनी जगह साफ़ करूँ कि स्वयं बैठ सकूँ।'' (पृ. १०९)

आत्म-निरीक्षण की यह विषादपूर्ण घड़ी, देश की माटी को आज़ाद करने वाले हर सच्चे साधक और सेनानी में हताशा का भाव भरती रही है। यही सवाल कथाकार को भी परेशान करता है कि देश की समृद्धि के बावजूद जिस पुरोहित (महात्मा गांधी) ने जन-पूजा का रास्ता दिखलाया था, वही कहीं गलत तो नहीं था? लेकिन चाहे जो भी हो, कथाकार गंगाधर ने मोहभंग और हताशा की इसी भावना को, भारत की महिमा से जोड़कर देखा है। तमाम लूट-खसोट, भाई-भतीजावाद, जातिवाद, भ्रष्टाचार और पतन के बावजूद उसकी आस्था के संबल को गोपीचंद जैसे अकिंचन पात्र भी थामे रहते हैं और कहते हैं, ''**इस राख के नीचे की मिट्टी कभी नहीं जलती है। यह वीरान होकर फिर से हरी-भरी हो जाती है।**'' (पृ. १०२)

जहाँ तक उपन्यास की कथावस्तु का सवाल है इसमें भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम से जुड़े मूल्यों और उसके परवर्ती विनियोजन का बड़ी गहराई से विश्लेषण किया गया है। सत्य, अहिंसा, लोगों के मौलिक अधिकारों की रक्षा और सबको न्याय जैसे मूल्यों की रक्षा के लिए आजादी के बाद जो कीमत चुकाई जानी थी – उसमें कहीं कोई चूक जरूर हो गयी। गोपीचंद जैसे सेनानी तटस्थ दर्शक की तरह मूक हो रहे गाँव या अंचल विशेष की राजनीति पर वह प्रभाव नहीं डाल सके जो अपेक्षित था। उपन्यास में या किसी पात्र में आत्म-संधान या बलिदान की सक्रिय भावना नहीं है, जो जातिवाद, भ्रष्टाचार या सामाजिक कुप्रथाओं के विरोध में खड़ा हो। इसलिए सारा विवरण लेखकीय वक्तव्य होकर रह जाता है। उपन्यासकार को किन्हीं रामभजन सिंह (उपन्यास में चित्रित गोपी मामा) का ऋण चुकाना है और इस दबाव में वे उनके प्रमुख अंशों को एक सुनी-सुनायी कहानी की तरह, प्रस्तुत भर कर देते हैं। केवल रहुआ गाँव में हिन्दू-मुस्लिम दंगे के दौरान दंगाइयों से एक विजातीय बालक की रक्षा का प्रसंग अवश्य ही मार्मिक बन पड़ा है। इसके बाद गोपी मामा या तो कथावाचक की तरह तटस्थ रहते हैं या दर्शक की तरह गाँव की राजनीति का तमाशा देखते रहते हैं। आगजनी (कुल मिलाकर चार बार), आज़ादी का पहला दिन, झण्डोत्तोलन, नमक-सत्याग्रह (पूर्व-दीप्ति), भूदान-यज्ञ, लगभग डेढ़ साल तक विनोबा की बिहार-यात्रा, हिंदू-मुस्लिम दंगा और सोनारी गाँव की जनियारी की दुःखी राजनीति – किसी ठण्डे मानचित्र या बोसीदा खाके की तरह है – उसमें जीवन और रंग नहीं है, मिट्टी की ताकत तो है पर सोंधी महक नहीं है। मान लिया जाय कि इसी विषयवस्तु को ''रेणु'' अपने हाथ में लेते तो क्या बैलों की दौड़, हाथी की दौड़ (पृ. २०) या कुश्ती (पृ. ३१), आगजनी, भजन-कीर्तन, चरखे और करघे की गति को इतने सतही ढंग से चित्रित करते? उनमें प्राणों का स्पंदन नहीं कर देते। हैरानी होती है कि जिस कथाकार ने पृ. १० पर गोपीचंद की मानसिकता का इतना काव्यात्मक और अंतरंग चित्र उकेरा हो, ''गोपी मामा उदास थे। आँसू की बेसहारा बूँद गालों से नीचे की ओर ढरक कर ठुड्डी के नीचे गायब हो जाती है और सर्द अनुभूति और सिहरता हुआ खालीपन छोड़ जाती है, वैसे ही गोपी मामा बगीचे की ओट में चले गये....'' उसी ने कैसे बड़े ही चलताऊ और ''फकोआ'' ढंग से (बकौल कथाकार) सारी स्थितियों का सपाट विवरण भर प्रस्तुत कर दिया है। ऐसा इसलिए कहा जा

रहा कि जब कथाकार यह कहकर टाल जाता है कि "लड़के-बच्चे अच्छे-अच्छे कपड़े पहनकर प्रेमचंद की "ईदगाह" कहानी की तरह तैयार हो रहे थे। (पृ. ३) या फिर "१५ अगस्त, १९४७, भारत में इससे अच्छा सवेरा कभी नहीं हुआ था, इससे ज्यादा आनंद का दिन कभी नहीं हुआ। नगर-नगर गाँव-गाँव में उत्सव का आयोजन हुआ। जैसे समूचा भारतवर्ष खुशियों से पागल हो गया।" (पृ. ५) यह सब पढ़कर ऐसा लगता है, जैसे कि लेखक कोई स्कूली निबंध या चिट्ठी लिख रहा है। ऐसा ही पाठ-विवरण भूदान-यज्ञ (पृ. ६९) और चर्खा यज्ञ (पृ. ५९) पर देखा जा सकता है। कहीं-कहीं तथ्यों और घटनाओं की पुनरावृत्ति भी हो गयी है।

पूरे उपन्यास में छोटे-बड़े लगभग पंद्रह पात्र हैं – सिधेश्वर, तिलकधारी, गणपत ठाकुर, श्रीमंत ठाकुर, हरकिसन सिंह, नित्यानंद सिंह, गजेंद्र सिंह, निरंजन दास, हमीद, भवनाथ चौधरी, भोगानंद, चंद्रकांत, जो एक-एक कर अलग छूटते चले जाते हैं। ये व्यक्ति नहीं, पात्र नहीं– प्रवृत्ति के सूचक हैं और नाम या स्थान बदल देने से भी इनके काम पर कोई असर नहीं पड़ता। और जैसा कि कहा गया, अंतिम पृष्ठ तक पहुँचकर भी कहीं कोई समाधान नहीं सूझता। असहयोग और सत्याग्रह, हरिजन उद्धार, जन-जागरण, चरखा प्रचार, "४२ की क्रांति और फिर पंद्रह अगस्त.... "यह सब साधना नहीं तो और क्या थी? एक विराट साधना। जैसे हिंदुस्तान एक मंदिर था। गांधी पुरोहित था और मंदिर के आंगन में खड़ा संपूर्ण हिंदुस्तान पुरोहित द्वारा उच्चारित मंत्रों को दुहारते हुए वर्षों से विराट साधना में जुटा हुआ था। लेकिन इस साधना का निष्कर्ष क्या मिला? पंद्रह अगस्त? नोआखाली? रहुआ?".... (पृष्ठ. ४८-४९)

गलती कहाँ हुई है और किसने की है, यह गोपीचंद अंततः नहीं समझ पा रहे हैं लेकिन उनका संकेत इस दायित्व से जुड़े उन तमाम लोगों का ही नहीं, स्वयं उनका भी है। आशा है, अपने आगामी उपन्यासों में लेखक मधुकर गंगाधर इन सवालों से खुद टकरायेंगे। ❑

उत्तरकथा (उपन्यास) – डॉ. मधुकर गंगाधर/प्रकाशक : भारती भण्डार, लीडर रोड, इलाहाबाद, २११००१/पृष्ठ संख्या १०२/मूल्य २१ रूपये/प्रथम संस्करण १९८४, सजिल्द, डिमाई।

एक विशिष्ट प्रतिनिधि संकलन 'राष्ट्रीय कविताएँ'

सुरेश ऋतुपर्ण

आधुनिक हिंदी कविता के विकास की एक प्रमुख प्रवृत्ति देश भक्ति की भावना के रूप में मिलती है। भारतेंदु हरिश्चंद्र को आधुनिक हिंदी साहित्य का जनक माना जाता है। भारतेंदु का युगांतरकारी महत्व इस बात में है कि उन्होंने सबसे पहले 'भारत-दुर्दशा' के कारणों को पहचाना और परतंत्रता के अभिशाप के प्रति एक जागृति का शुभारंभ किया। यों वीर भाव से जुड़ी ऐसी अनेक कविताएँ वीरगाथाकाल से लेकर सन् १८५७ के गदर तक मिल जायेंगी जिनमें अपने अभिमान और आत्मसम्मान की रक्षार्थ विदेशी आक्रांताओं या अन्य शत्रुओं के साथ लड़ने वाले वीरों की प्रशस्तियाँ गायी गयी हैं। लेकिन उनकी यह देश भक्ति, आधुनिक राष्ट्रीय भावना से भिन्न कोटि की है। वस्तुत: उनकी वीर भावना के मूल में संपूर्ण राष्ट्र न होकर अपने-अपने राज्य ही थे। या फिर हिंदुत्व की रक्षा का संकल्प था। छत्रसाल, शिवाजी की वीरता, शौर्य और उत्साह का चित्रण करने वाली कविताओं के मूल में यह हिंदुत्व की रक्षा वाला भाव ही प्रमुख है। वस्तुत: आधुनिक संदर्भ में राष्ट्रीय भावना का प्रथम उत्स सन् १८५७ का गदर ही है। यह ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारत की संगठित राष्ट्रीय चेतना का विस्फोट था और पहली बार भारत की जनता अपने अपने राज्य, धर्म, सप्रदाय, मतवादों को भूलकर संगठित रूप में अपने शत्रु से लड़नी है। सन् १८५७ का विद्रोह यों तो एक असफल विद्रोह कहलाता है लेकिन इसने भारतवासियों में एक ऐसी राष्ट्रीय भावना का बीज बो दिया था जिसका पल्लवन स्वराज्य प्राप्ति के संघर्ष के रूप में हुआ और फलत: सन् १९४७ में भारत विदेशी दासता से मुक्त हो सका।

इस राष्ट्रीय भावना को पोषित करने में हिंदी भाषा और उसके साहित्य ने एक ऐतिहासिक भूमिका निभायी है। राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत कविताएँ लिखने वाले अनेक कवियों ने भारतीय जनता में स्वतंत्रता प्राप्ति की कामना को एक आग की तरह सुलगा दिया था। भारत की आज़ादी की लड़ाई में इन कवियों और उनके द्वारा लिखी गयीं ओजस्वी कविताओं का महत्व निर्विवाद रूप से युगांतरकारी है लेकिन हिंदी साहित्य का इतिहास लिखने वालों की दृष्टि में इनका महत्व बहुत कुछ अनदेखा ही रहा है। ऐसी स्थिति में प्रसिद्ध हिंदी सेवी विद्वान, साहित्य मर्मज्ञ और सांसद श्री नरेशचंद्र चतुर्वेदी तथा परिचित समीक्षक और गीतकार डा. उपेंद्र द्वारा संपादित पुस्तक 'राष्ट्रीय कविताएँ' एक गहरे अभाव की पूर्ति का स्तुत्य प्रयास है। इस पुस्तक में पहली बार ऐसी अनेक कविताएँ सम्मिलित रूप से प्रकाश में आयी हैं जो स्वातंत्र्य-संग्राम के दिनों में जन-जन के कंठों से निकल गूँजा करती थीं।

प्रस्तुत पुस्तक में अस्सी से ऊपर कवियों की लगभग २५० कविताएँ संकलित हैं। सन् १८५० में जन्मे भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर सन् १९१९ में जन्मे श्री रघुवीरशरण मित्र तक की कविताएँ संकलित हैं। पुस्तक के अंत में कवियों का संक्षिप्त परिचय और कविताओं की प्रथम पंक्ति की एक 'संकेतिका' भी अकारादि क्रम से दी गयी है। पुस्तक में एक परिशिष्ट भी है जिसमें बंकिम चंद्र चटर्जी की रचना 'वन्दे मातरम्' भी है। इकबाल की 'हिंदोस्तां हमारा' के साथ ही साथ कई ऐसी प्रसिद्ध कविताओं को भी संकलित किया गया है जिनके लेखकों के नाम अज्ञात हैं।

इस पुस्तक में संकलित कविताओं में भारत के गौरवशाली अतीत की गहरी स्मृतियाँ, विदेशी शासन के अत्याचार, अन्याय व शोषण की पहचान और उसका विरोध, परतंत्रता के कष्टों की अनुभूति, कुरीतियों के उन्मूलन का आग्रह, राष्ट्रीय नेताओं द्वारा चलाए जा रहे राजनैतिक आंदोलनों को समर्थन, त्याग की भावना, वीरपूजा का भाव, क्रांति की आकांक्षा, भारत के उज्जवल भविष्य का स्वप्न आदि से जुड़ी भावनाओं को अभिव्यक्ति मिली है।

इस पुस्तक की कविताओं को पढ़ते हुए यह तथ्य भी अत्यंत मुखर रूप से सामने आता है कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता का आंदोलन अप्रत्यक्ष रूप से हिंदी भाषा के विकास से भी जुड़ा है। तत्कालीन राष्ट्रीय नेताओं के मनों में यह बात साफ हो चुकी थी कि इस विशाल देश को एकता के सूत्र में बाँधने का काम हिंदी भाषा ही कर सकती है। गाँधी जी के नेतृत्व में हिंदी भाषा का प्रचार-प्रसार, बड़ी तेजी से हुआ, यह बात सर्वाविदित ही है। लोचनप्रसाद पांडेय की कविता की ये दो पंक्तियाँ देखिए—

हिंदी भाषा है हिंद देश की भाषा।
इसकी उन्नति है देशोन्नति की आशा।।

इन राष्ट्रीय कविताओं में से अनेक कविताओं में गांधीजी के विचार स्फुलिंग की भाँति चमकते हैं। गाँधी जी द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, सत्याग्रह खादी स्वावलंबन आदि से जुडी अनेक कविताएँ इस युग में लिखी गयी हैं। इन कविताओं के रचयिताओं के मनों में अपने मातृभूमि के प्रति गहरा प्रेम विद्यमान था। उन्हें किसी ने ऐसी कविताएँ लिखने के लिए उकसाया नहीं था, और न ही इनसे कोई विशेष आर्थिक लाभ ही उन्हें होने वाला था। उन्होंने अपने हृदय के उस ओज को ही वाणी दी है, जो अपनी मातृभूमि को विदेशी शासन से मुक्त कराने के स्वप्न से जुड़ा था। अत: उनकी भाषा में गहरी सहजता के दर्शन होते हैं। उन्हें कविता में किसी प्रकार के चमत्कार प्रदर्शन की चाह नहीं थी। उनकी अभिव्यक्ति बडी ही सीधी-सादी थी —

मेरी जां न रहे मेरा सर न रहे सामां न रहे न ये साज़ रहे।
फकत हिंद मेरा आज़ाद रहे और माता के सिर पर ताज रहे।। (माधव शुक्ल)

सन् १९२० से सन् १९३६ तक का समय हिंदी साहित्य के इतिहास में छायावाद के नाम से प्रसिद्ध है। इस काल की काव्य प्रवृत्ति पर अक्सर समाज-विमुख होने का आरोप लगता रहा है। प्रस्तुत पुस्तक के संपादकों का मत है कि यह आरोप ठीक नहीं है। 'अक्सर यह शिकायत की गयी है कि उन कठिन घड़ियों में छायावादी कवि समाज और राष्ट्र, से मुँह फेर कर सौंदर्य के कल्पनालोक में विचर रहे थे। गहराई से देखने पर यह आरोप उचित नहीं लगता। यह सही है कि छायावादी कवियों का देश के राजनैतिक आंदोलनों से सीधा संबंध नहीं था ओर अपने पूर्ववर्ती और अनेक परवर्ती कवियों की तुलना में ये अधिक व्यक्तिवादी कल्पनाप्रिय और कलाधर्मी थे पर युगीन परिस्थितियों का इस पुस्तक में प्रसाद के नाटकों में आये गीत, निराला के 'भारती, जय विजय करे', पंत की 'भारतमाता ग्रामवासिनी' आदि कविताओं को भी सम्मिलित किया गया है, जिन्हें पढ़कर इन छायावादी कवियों के राष्ट्र-प्रेम का परिचय सहज ही पाया जा सकता है। वस्तुत: छायावादी कवियों की स्वप्निलता का एक

विशेष कारण था। स्वातंत्र्य-संग्राम उनका प्रत्यक्ष यथार्थ था और स्वतंत्रता संभाव्य स्वप्न। वस्तुत: यह संभाव्य स्वप्न ही उनमें कल्पना का आवेश भरता था जो उनकी सौंदर्य-दृष्टि से जुड़कर धीरे-धीरे वायवी होता चला गया।

एक तरह से देखा जाए तो इन राष्ट्रीय कविताओं में हमारी आज़ादी का इतिहास धड़कता है। आजादी के बाद में जन्म लेनेवाली आज की युवा पीढ़ी को आज यह समझाना आसान नहीं है कि देश की आजादी के लिए मर मिटने वाले शहीदों ने कैसे-कैसे त्याग और बलिदान किए हैं। ये कविताएँ अपनी भावात्मकता में उन्हें उस भव्य विरासत से परिचित करा सकेंगी, ऐसी आशा करना असंगत न होगा।

स्वातंत्र्य संग्राम के दिनों में इनमें से अनेक कविताएँ लोगों को कंठस्थ थीं तथा विभिन्न जलसों, समारोहों व प्रभातफेरियों में इन्हें सस्वर गाया जाता था। जन-जन के कंठों से उच्चरित होने वाली इन कविताओं में से अनेक कविताओं के लेखकों के बारे में कुछ भी जानकारी आज प्राप्त नहीं हो पाती है। ये कवि 'अज्ञात' हैं। आज ये कवि भले ही अज्ञात रह गये हों लेकिन उनकी कविताएँ अमर हो गयी हैं। वेदों की ऋचाएँ रचने वाले महान ऋषियों के बारे में भी कोई नहीं जानता है, लेकिन उनकी सृजनात्मक प्रतिभा ने जो ज्ञानराशि हमें विरासत के रूप में सौंपी है, वह अमर है। इस तरह राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-संग्राम के दिनों में रचित ये अनेक कविताएँ जन-जन की स्मृतियों में बस गयी थीं। इन्हें गाने वालों को यह नहीं मालूम होता था कि उनके रचयिता कौन हैं लेकिन वह उनके अपने मन की बात थी, उनकी अपनी भावनाएँ ही उनमें शब्द-बद्ध थीं, अत: उनके कंठ से वे गीत सहज ही स्वर पा जाते थे।

इस संदर्भ में श्यामलाल गुप्त 'पार्षद' की कविता 'झण्डा ऊंचा रहे हमारा', जगदम्बा प्रसाद 'हितैषी' की 'शहीदों की चिताओं पर जुड़ेंगे हर बरस मेले', राम प्रसाद बिस्मिल की 'सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है' आदि कविताओं का विशेष उल्लेख किया जा सकता है।

भारत की भावात्मक एकता की यह एक बड़ी मिसाल है। इन कविताओं ने पूरे एक युग में प्राणों का संचार किया है। कई पीढ़ियों को अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ते रहने को तैयार किया। इन कविताओं में भारत की मुक्ति की कामना और स्वतंत्रता का स्वप्न छिपा है।

स्वप्न देखना मानव जाति का एक स्वाभाविक गुण है। स्वप्न के बिना वास्तविकता भी सम्भव नहीं हो पाती। कल का स्वप्न ही आजा की वास्तविकता बनता है। महान लेखकों की रचनाओं में जो स्वप्न उभरते हैं, वही आगामी युग की वास्तविकता होते हैं। वस्तुत: ये राष्ट्रीय कविताएँ आजादी के स्वप्न का मंगलाचरण हैं।

भाषा-शिल्प की दृष्टि से ये कविताएँ हिंदी भाषा के विकास के महत्वपूर्ण चरण हैं। ये कविताएँ खड़ी-बोली के विकास के विभिन्न सोपानों की प्रतीक हैं। भारतेंदु की कविता में प्रयुक्त भाषा से लेकर प्रसाद, निराला, पंत, नवीन, दिनकर आदि की भाषा में पर्याप्त अंतर दिखाई देता है पर एक बात तो इन सभी कविताओं में दिखाई देती है और वह है इनकी सादगी और सहजता। 'इन कविताओं में भावों की उठा-पटक नहीं है।' लाक्षणिक वक्रता और व्यंजनात्मकता की ओर इन कवियों का ध्यान कम ही है। आज भले ही इन कविताओं का अभिधापरक होना हमें इनके काव्य-शिल्प की कमजोरी प्रतीत हो, लेकिन इन कविताओं में से अनेक ने अपने युग में एक क्रांतिकारी भूमिका निभायी थी, इसमें कोई संदेह नहीं है। स्वातंत्र्य संग्राम के लिए नैतिक और मानसिक तैयारी, सर्वधर्म सममाव, त्याग का उच्चादर्श, राष्ट्रीय अभियान और अभिमान के अनेक पक्षों को ये कविताएँ प्रस्तुत करती हैं।

इस पुस्तक की मूल आयोजना में इस बात की ओर अवश्य ही ध्यान जाता है कि पुस्तक के अंतिम कवि श्री रघुवीरशरण मित्र हैं तथा अधिकांश कविताएँ आजादी से पूर्व की हैं। अर्थात् इस संग्रह में सम्मिलित समस्त कविताएँ स्वातंत्र्य-संग्राम के दौर में लिखी गयी हैं। लेकिन राष्ट्रीयता का भाव मात्र स्वातंत्र्य-संग्राम तक ही तो सीमित नहीं रहा है। आजादी मिलने के बाद राष्ट्रीयता का भाव ही समाप्त हो गया हो ऐसी तो बात नहीं है। आजादी मिलने के बाद भी अनेक स्तरों पर हिंदी कवियों की राष्ट्रीय भावों से युक्त कविताएँ समय-समय पर सामने आती रही हैं। क्या ही अच्छा होता कि सन् १९४७ तक जो भी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय कविताएँ लिखी गयीं, वे भी इस संकलन में आ गयी होतीं। यदि प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता के कवियों की राष्ट्रीय भावों से जुड़ी कविताओं का भी एक संकलन अलग से तैयार किया जाये तो राष्ट्रीय कविताओं के प्रकाशन का यह महायज्ञ पूर्णता प्राप्त कर सकेगा।

पुस्तक प्रकाशन के लिए संपादक-द्वय निश्चय ही साधुवाद के अधिकारी हैं जिन्होंने अनथक परिश्रम करके इधर-उधर बिखरी इन कविताओं को एक सूत्र में पिरोकर प्रस्तुत किया है। वस्तुतः भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम का इतिहास इन कविताओं के बिना अधूरा ही है। क्योंकि तत्कालीन मानस को स्वातंत्र्य बोध से मण्डित करने का गुरु-कार्य संपन्न करने में इन कविताओं का महत्व निर्विवाद है। और, आज जब देश आतंकवाद, प्रांतीयतावाद, जातिवाद, भाषावाद आदि की भँवर में फँसा हुआ है तथा उसकी अखंडता और एकता पर संकट के गहरे बादल छा जाना चाहते हैं, तब इन कविताओं के व्यापक प्रचार-प्रसार से भावात्मक एकता का सुदृढ़ आधार तैयार करने में मदद मिल सकती है।

□

राष्ट्रीय कविताएँ/संपादक-नरेशचंद्र चतुर्वेदी एवं डॉ. उपेन्द्र/प्रकाशक-साहित्य निकेतन, कानपुर/प्रथम संस्करण-१९८६/मूल्य-१५० रूपये।

सूरीनाम में भारतीय सांस्कृतिक केंद्र के नए भवन का उद्घाटन

रागिनी सिन्हा

युगों से भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम और आकर्षण संसार के प्रायः सभी देशों में देखा जाता है किंतु जिन मुल्कों में भारतवंशी निवास करते हैं उनका भारतीय संस्कृति के प्रति प्रेम बड़ा स्वाभाविक और निष्ठापूर्ण रहा है। सदियों पहले बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश से जिन देशों में भारतीय जाकर विदेशों में बस गये उनमें प्रमुख हैं मारीशस, फीजी, सूरीनाम, गयाना, त्रिनिदाद और जैमेका आदि। भारतवंशियों के इस सच्चे प्रेम को देखते हुए भारत सरकार ने योजनाबद्ध ढंग से मारीशस, फीजी, गयाना और सूरीनाम आदि देशों में भारतीय सांस्कृतिक केंद्र की स्थापना की और ये केंद्र वर्षों से इस दिशा में कार्यरत हैं। सूरीनाम में भारतीय सांस्कृतिक केंद्र लगभग एक दशक से चल रहा है किंतु इस केंद्र के पास अब तक समुचित भवन नहीं था। इस अभाव की पूर्ति अभी हाल ही में होली के कुछ ही दिन बाद एक भवन के उद्घाटन से हुई। यह भवन सूरीनाम की राजधानी पारामारिबो के केंद्र में नया-नया बन कर तैयार हुआ है और इसमें ऐसे सभी प्रावधान किए गए जिससे कि संगीत, नृत्य, वादय, हिंदी शिक्षण की समुचित व्यवस्था के साथ-साथ एक अच्छा पुस्तकालय/वाचनालय चले और यहां केंद्र का अपना सभा-भवन भी है जो इन प्रवृत्तियों को पुष्ट करने में योगदान देता रहेगा।

इस भवन का उद्घाटन सूरीनाम के राष्ट्रपति महामहिम श्री रामदत्त मिश्र ने दीप जलाकर किया और सूरीनाम सरकार के शिक्षा मंत्री श्री लि फो शू ने इस अवसर पर भारत और भारतीय संस्कृति की प्रशंसा करते हुए कहा कि अन्य क्षेत्रों के अतिरिक्त संस्कृति के क्षेत्र में जो कार्य भारत ने किया है वह अनुकरणीय है। सूरीनाम अपनी सांस्कृतिक स्वाधीनता और संप्रभुता के लिए भारत से इस दिशा में प्रेरणा ग्रहण कर सकता है। सूरीनाम और भारत के बीच वर्षों से मैत्री के सुदृढ़ संबंध रहे हैं और सूरीनाम सरकार भारत के राजदूत को यह विश्वास दिलाती है कि हम इस आपसी मैत्री और सद्भाव के संबंधों को सुदृढ़ करने की सदैव चेष्टा करते रहेंगे।

दि. १९ मार्च १९८७ को इस नए भवन का भव्य उद्घाटन समारोह आयोजित किया गया। समारोह में भाग लेने के लिए सूरीनाम के राष्ट्रपति महामान्य श्री एल.एफ. रामदत्त मिसिर एवं उनकी धर्मपत्नी स्वयं पधारे। सूरीनाम के राष्ट्रपति भारत मूल के हैं और उन्हें भारतीय संगीत और ललित कलाओं से ही नहीं, संपूर्ण भारतीय संस्कृति से विशेष लगाव है। सूरीनाम के राष्ट्रपति ने दीप प्रज्जवलित कर इस समारोह का शुभारंभ किया। नए भवन का औपचारिक उद्घाटन सूरीनाम के शिक्षा एवं संस्कृति मंत्री द्वारा किया गया। सभागार सूरीनाम के विशिष्ट राजनेताओं, असेम्बली

सदस्यों, लेखकों, बुद्धिजीवियों, कला प्रेमियों तथा विशिष्ट राजनयिकों की अपार भीड़ से खचाखच भरा था।

भारतीय संगीत और कला के प्रेमी उपस्थित अतिथियों का हार्दिक स्वागत करते हुए भारत के राजदूत महामहिम श्री बच्चू प्रसाद सिंह ने भारतीय सांस्कृतिक केंद्र की गतिविधियों का उल्लेख किया और कहा कि पारामारिबो में पिछले लगभग एक दशक के अपने कार्यकाल में भारतीय सांस्कृतिक केंद्र ने सूरीनाम के संगीत प्रेमी छात्रों को ही नहीं यहाँ के गायकों, वादकों और नर्तकों की कला को सँवारने-सुधारने की दिशा में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने आशा प्रकट की, कि नए भवन के नए परिवेश में नए जोश और उमंग के साथ से प्रयत्न और भी सार्थक होते जाएँगे।

भारतीय उपमहाद्वीप में हजारों वर्षों से चली आ रही भारतीय संस्कृति की सामासिकता की चर्चा करते हुए भारतीय राजदूत ने कहा कि उत्तर में पर्वतराज हिमालय की हिमाच्छादित धवल चोटियाँ और दक्षिण में हिंद-महासागर की अतल गहराई ऐसी है यह संस्कृति जो कठिन भौगोलिक, भाषाई, आकृति-मूलक, धार्मिक और सांप्रदायिक विभिन्नताओं वाले विस्तृत भू-भागों और जन समूहों को एक सूत्र में समेटते हुए पूर्व से पश्चिम तक फैली हुई है। दुनिया में आज तक जितने धर्म फैले, जितनी संस्कृतियाँ प्रस्फुटित हुई, भले ही वे कालक्रम में विलुप्त होते चले गए पर भारतीय संस्कृति ने खुलेमन से उनके सार तत्व को ग्रहण कर और उनको अपने में समाहित कर एक ऐसी संस्कृति का निर्माण किया जो कभी विलुप्त नहीं हुई। आज भी हमारी संस्कृति शोषण, साम्राज्यवाद, आक्रमण और रंगभेद का विरोध करती है और मानव कल्याण, दया, सहिष्णुता तथा आपसी सद्भाव के सिद्धांतों पर आगे बढ़ रही है। यही कारण है कि श्री ए.एल. बाशम जैसे समकालीन महान इतिहासकारों का कहना है कि चीन, भारत, भूमध्यसागरीय तथा ग्रीस और इटली जैसी विश्व को प्रभावित करने वाली महान प्राचीन संस्कृतियों से भारतीय संस्कृति का स्थान सर्वोच्च है क्योंकि इसने केवल दक्षिण-पूर्व एशिया के ही नहीं, विश्व के सभी भागों के जन-जीवन को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया है। बाशम का निष्कर्ष है भारतीय संस्कृति पश्चिमी संस्कृति से बहुत ही ज्यादा प्राचीन है। 'इलियाड' की रचना से पूर्व संपूर्ण ऋग्वेद की रचना हो चुकी थी। ऋग्वेद के परवर्ती सूत्र भी 'ओल्ड-टेस्टमेंट' से भी बहुत पुराने हैं। कुछ हमारे विश्वास और मिथक जैसे पीपल वृक्ष और नंदी पूजा हड़प्पा संस्कृति से भी पहले से चली आ रही है। चार हजार से भी अधिक वर्षों के अब तक ज्ञात इतिहास के क्रम में भारत की लगभग हर पीढ़ी ने अपनी अपनी पीढ़ी के लिए संस्कृति के क्षेत्र में कुछ न कुछ विरासत छोड़ी है और भारतीय संस्कृति इसीलिए शाश्वत और जीवंत है।

ऋग्वेद की एक प्रसिद्ध ऋचा 'नो भद्रा कर्तावौ : यमतो विश्वस: का अर्थ ही है कि जो कुछ सत्य है, सुंदर है उसे ग्रहण करते चलो। अपने में आत्मसात करते रहो। यही कारण था कि हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने कहा था कि किसी जाति या सप्रदाय से हमें कोई विद्वेष नहीं है और हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति भी कोई कटुतापूर्ण दुर्भावना रखने में विश्वास नहीं रखते। हमारे घर की खिड़कियाँ हर नई रोशनी के लिए खुली हैं पर हम उनके बहाव में बह नहीं सकते। भारत की राष्ट्रीय भावना का यही मूल तत्व है।

भारतीय साहित्य, संगीत, ललित कलाओं और संपूर्ण सस्कृति ने सदा ही विचारशील विद्वानों को प्रभावित और आह्लादित किया है। अमरीका के महान कवि थोरो ने हिंदू विधिशास्त्र के निर्माता मनु का अध्ययन करने के बाद लिखा था : वेदों के किसी भी भाग के अध्ययन से उन्हें देवी प्रकाश की अनुभूति होती है। वेदों की शिक्षा में संकीर्णता का लेश-मात्र नहीं है यह सभी युगों, सभी राष्ट्रों और सभी स्तरों के लोगों के लिए परम ज्ञान की प्राप्ति का साधन है।

भारतीय सांस्कृतिक केंद्र
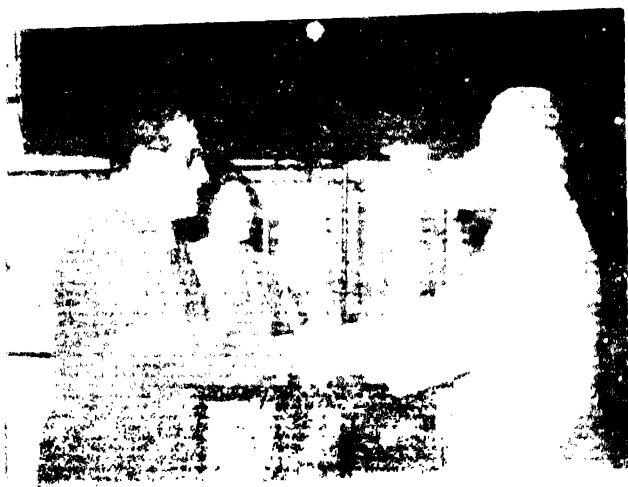
सूरीनाम गणतंत्र के राष्ट्रपति महामान्य श्री एल.एफ. रामदत्त मिसिर एवं उनकी धर्मपत्नी का स्वागत करते हुए भारत के राजदूत महामहिम श्री बच्चू प्रसाद सिंह

महाकवि टैगोर ने भी भारत की नई पीढ़ी के कलाकारों के सामने यही आदर्श रखा था कि वे खुले मन और मष्तिष्क से समस्त मानव मन के अध्ययन को अपना लक्ष्य बनायें। महामहिम ने कहा कि भारतीय संस्कृति के इसी आदर्श के अनुरूप आज लगभग सत्तर देशों के साथ हमारे सांस्कृतिक आदान-प्रदान के समझौते बड़ी सफलता के साथ चल रहे हैं। सूरीनाम के कलाकारों की लगन और मेहनत की प्रशंसा करते हुए महामहिम ने कहा कि उन्हें आशा है कि **नए भवन के परिवेश में सूरीनाम और भारत के कलाकार आपसी सहयोग और आदान-प्रदान से बहुत लाभ उठा सकेंगे और इससे हमारे दोनों देशों के बीच पारस्परिक मैत्री की भावना और मजबूत होगी।** महामहिम ने सूरीनाम के राष्ट्रपति और सरकार का सतत सहयोग और प्रोत्साहन के लिए हार्दिक आभार व्यक्त किया।

सूरीनाम के शिक्षा मंत्री ने अपने वक्तव्य में कहा कि आज विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं वाले देशों के बीच सांस्कृतिक गतिविधियों का आदान-प्रदान एक ऐसा सामान्य मंच है जिसके माध्यम से हम एक दूसरे से बहुत कुछ सीख सकते हैं। भारत की संस्कृति बहुत पुरानी व बहुत महान है और हम जानते हैं कि इसे समृद्ध करने में भारत की जनता ने कितना संघर्ष किया है। अपनी सांस्कृतिक पहचान बनाने और स्वतंत्र प्रभुसत्ता स्थापित करने के लिए हमारा देश भारत से बहुत कुछ सीख सकता है। भारत और सूरीनाम के संबंध वर्षो पुराने हैं और सूरीनाम की सरकार और जनता इन संबंधों को और मजबूत बनाए रखने के लिए सब कुछ करेगी।

उद्घाटन के बाद सांस्कृतिक केंद्र की ओर से एक सुंदर सांस्कृतिक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया गया। केंद्र के छात्रों, अध्यापकों तथा सूरीनाम के कलाकारों ने अपने नृत्यों, गायन, सितार और तबला के अनेक सुंदर कार्यक्रमों को प्रस्तुत कर अतिथियों को आह्लादित किया। कार्यक्रम के अंत में सांस्कृतिक केंद्र के निदेशक श्री एम. जेसुदास ने सभी आगंतुकों, अभिभावकों, सूरीनाम की सांस्कृतिक संस्थाओं और कलाकारों को उनकी सतत रुचि और सहयोग के लिए धन्यवाद दिया। सांस्कृतिक कार्यक्रम की समाप्ति के बाद सभी अतिथियों ने जलपान में हिस्सा लिया और सभी ने सुंदर नये भवन के निर्माण में दूतावास की मुक्त कंठ से प्रशंसा की।

□

मारीशस-अंक पर विशिष्ट प्रतिक्रियाएँ

भारत एक महान देश है और उसकी संस्कृति काफी पुरानी और महान है। इस देश ने युग-युगों से अपनी दार्शनिक विचारधारा के माध्यम से बाहर जहाँ भी और जब भी भारत के लोग गये वे अपनी संस्कृति और अपने जीवन मूल्यों को अपने साथ ले गये और उनको सदैव अपनी वास्तविक धरोहर मानते रहे। यही कारण है कि अनेक देशों में बसे भारतवंशियों ने भाषा को अपनी संस्कृति और अपनी अस्मिता को बनाये रखने का मुख्य साधन स्वीकार किया और 'भाषा गयी तो सब कुछ गया' का उद्घोष करके अपनी समूची शक्ति को बटोरकर संध्या के अरुणिम प्रकाश में कुटिया के सामने खुले में या पेड़ के नीचे बैठकर भाषा-ज्ञान की महती साधना में प्रथम पाठ पढ़ा और तभी से शुरू हुई इन अनेक देशों में भाषा की अनंत यात्रा।

हिंदी-प्रचार के ऐसे ही विश्वव्यापी आयामों में मारीशस की हिंदी प्रचारिणी सभा समय की बालू पर अंकित एक अमिट चिह्न है। इस सभा ने पचास वर्ष पहले तिलक स्कूल के रूप में हिंदी प्रचार का जो बीज़-वपन किया था वह अब १३५ संस्थाओं के रूप में वट-वृक्ष का रूप धारण कर चुका है। गत वर्ष सभा की स्वर्ण जयंती पर उसके महान कार्यों को शाश्वत रूप देने के लिये इस अवसर पर **गगनांचल** का विशेषांक प्रकाशित करने की योजना बनायी गयी और सामग्री इकट्ठी करके **आइ. सी. सी. आर.**, नई दिल्ली भेज दी गयी। कुछ लेख संपादक महोदय ने भारत और मारीशस के संगम को ध्यान में रखते हुए भारत के लेखकों से भी आमंत्रित किये। यह प्रयास अपने आप में स्तुत्य है। मारीशस में हिंदी-प्रचार का यह एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। सभी लेखों में हिंदी-प्रचार की महनीय साधना को मापने की खोज की गयी है। मारीशस हिंदी, नाटक, निबंध, कविता और कहानी लिखने वाले इसमें एक साथ स्थान पा सके हैं यह प्रसन्नता की बात है।

विज्ञान के इस युग में सब कुछ पाने की आपाधापी में इन्सान छिटक कर दूर आ पड़ा है उसकी अपनी पहचान खो गई है, कभी-कभार इसी तरह के विशेषांक उसे उसके इस रूप को याद करा देते हैं। अपनी पैनी दृष्टि से आपने ऐसे लेखों का चयन किया है जिन्होंने स्वाय अतीत को एक बार फिर शब्दों की कड़ियों में बाँधकर हमारे सामने उजागर किया है। इस ऐतिहासिक महत्वपूर्ण प्रकाशन के लिए बधाई।

डॉ. हर गुलाल गुप्त/प्रथम सचिव शिक्षा और हिंदी/भारत का हाईकमीशन/पोर्ट लुई।

मारीशस स्थित भारतीय उच्चायुक्त के सौजन्य से आपने **गगनांचल** पत्रिका के मारीशस विशेषांक में हिंदी प्रचारिणी सभा मारीशस के स्वर्ण जयंती महोत्सव के शुभावसर पर सभा के कार्य संबंधी जो लेख प्रकाशित किये हैं उसके लिए हिंदी प्रचारिणी सभा आपकी परिषद् को, आपकी सरकार को, भारतीय उच्चायुक्त तथा शिक्षा सचिव श्री हर गुलाल गुप्त जी को हार्दिक धन्यवाद करती है।

आपके इस विशेषांक से न केवल मारीशस की जनता वरन् अन्य देशों के लोग जहाँ-जहाँ यह पत्रिका पढ़ी जाती है, सभा की गति-विधि से अवगत होंगे। इसे पढ़ कर वे समझ सकेंगे कि भारत देश से दूर बसे हुए भारतीय मूल के लोग भारतीय भाषा तथा भारतीय संस्कृति को किस प्रकार विश्व में प्रसारित करने के लिए कार्य कर रहे हैं।

महान भारत की भाषा एवं संस्कृति ने ही विभिन्न देशों के भारतीय आप्रवासियों को कठिन से कठिन परिस्थितियों में कार्य करने की शक्ति दी है। जीवन यापन करने की सामर्थ्य दी है। आज यदि हम अपने पितृ देश भारत से इतनी दूर बस कर भी आनंद तथा सुख का अनुभव कर रहे हैं तो यह एक मात्र भारतीय महापुरुषों तथा उनके साहित्य का परिणाम है। जिन देशों में हम जी रहे हैं उन्हीं देशों का गुणगान करते हैं, उन्हीं के उत्थान में हम लगे हुए हैं, उन्हीं के वाशिंदों को हम अपने भाई समझते हैं, यह सब भारतीय आदर्शों का पालन करने से ही संभव हुआ है।'

रविशंकर कौलेशर/अध्यक्ष/हिंदी प्रचारिणी सभा/लोंग माउन्टेन/मारीशस।

विगत वर्ष मारीशस के प्रत्येक हिंदी प्रेमी का यह प्रश्न था, 'गगनांचल' का मारीशस-अंक कब मिलेगा?

वह मिला और आवरण पर दिया गया चित्र देखकर पाठक फूला नहीं समाता और उसे विश्वास हो जाता है कि यह अंक आशा को निराशा में परिणत कर ही न सकेगा।

विविधता स्पष्ट दिखाई देती है। मारीशस-अंक अन्य विशेषांकों की टक्कर का है। इसमें जरा भी संदेह नहीं है कि यह संग्रहणीय है। मेरी सम्मति में शोध कार्य करने वाले इसे पास रखना चाहेंगे।

मारीशस के कई हिंदी लेखकों को भुलाया जा रहा था। **स्व. ब्रजनाथ माधव** के थोड़े ही नामलेवा रह गये थे। कुछ ही लोग याद करते हैं कि उन्होंने फ्रैंच साहित्य की अमर कृतियों का सुंदर **हिंदी में रूपांतर** किया है। **री अ.वा. फुन्दन बी.ए. (लंदन)** एक मात्र उर्दूभाषी हैं जिन्होंने हिंदी में एक पुस्तक लिखी है। मराठी होने पर भी स्व. आत्माराम ने अनेक पुस्तकें लिखीं जो अब अनुपलब्ध हैं। ऐसे महानुभावों की देन पर पूरा प्रकाश डाला गया है। अब तो हमें इतनी पुस्तकें प्राप्त हो गई हैं कि सब को पढ़ पाने की संभावना न रही। यह विशेषांक न होता तो क्या मॉरीशस में और क्या भारत में नयी पीढ़ी को मालूम न होता कि १९४१ में हिंदी प्रचारिणी सभा ने प्रथम हिंदी साहित्य सम्मेलन का आयोजन करने का साहस किया था।

उक्त सभा के जन्मकाल में उसके एक दो साहसी सदस्य भारत पहुँचे थे। उन्होंने १९३६ में **पं. मदन मोहन मालवीय** से संदेश लेकर ही दम लिया था। तब 'मारीशस नाम बिरले लोगों ने ही भारत में सुना था।

एक सुझाव और वह यह है कि हिंदी प्रचारिणी सभा स्थापना अर्द्धशती के अवसर पर जो श्रेष्ठ निबंध पुरस्कृत हुए थे उनके लिए आगामी अंकों में स्थान बनाया जाय।

विष्णुदयाल/मारीशस।

'गगनांचल' का बहुप्रतीक्षित 'मारीशस अंक' देखकर मारीशस के हिंदी भाषियों की प्रसन्नता की सीमा नहीं रही। इस अंक ने जहाँ एक ओर मारीशस के भारतीय मूल के लोगों की सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन तथा स्वभाषा-प्रेम का उज्ज्वल परिचय दिया है वहीं, दूसरी ओर मारीशस के जाने-माने रचनाकारों के साथ-साथ भारत के लिए उन अज्ञात और साथ ही नवोदित लेखकों की रचनाओं को छापकर ऐसे उत्साही लेखकों को अपार प्रोत्साहन भी दिया है, इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं रहेगी कि ये लेखक पहले की अपेक्षा अत्यधिक आत्मविश्वास और परिश्रम से लेखन में प्रवृत्त होने की प्रेरणा पायेंगे।

वैसे मारीशस का पहले से ही भारत से रक्त का संबंध रहा है। यही नहीं बल्कि सांस्कृतिक और धार्मिक रज्ज से मारीशस भारत से जुड़ा भी है। इसी से मारीशस के एक कवि ने कहा है कि 'मारीशस भारत-माता के हृदय का एक टुकड़ा है, जिसकी सांस्कृतिक और धार्मिक धड़कनें डेढ़ सदी के प्रतिकूल परिवेश में भी कभी धीमी नहीं पड़ी।'

मारीशस की स्वाधीनता के बाद हिंदी के माध्यम से साहित्यिक रूप से भी मारीशस-भारत के मधुर संबंधों को सुदृढ़ करने के लिए लालायित है, यह तथ्य ''गगनांचल'' के सुविज्ञ पाठकों के सामने उजागर हुए बिना न रहा होगा।

हिंदी प्रचारिणी सभा के संबंधित, प्रचुर सामग्री पढ़कर भारतीय पाठकों को इस बात की भी झलक मिली होगी कि अपनी अस्मिता को बनाये रखने और अपने पूर्वजों की विरासत की रक्षा के लिए मारीशस के प्रवासी भारतीयों ने कितना कुछ किया है। पत्रिका निश्चय ही महत्वपूर्ण बन पड़ी है। मेरी बधाई स्वीकार करें।

नारायणपत देसाई/हिंदी अध्यापक एवं नाटककार/१५, सुखदेव विष्णुदयाल गली/मारीशस।

हिन्दी प्रचारिणी सभा, मारीशस की स्वर्ण जयंती पर आई.सी.सी.आर. नई दिल्ली की **गगनांचल** पत्रिका का 'मारीशस अंक' विषय वस्तु और सज्जा दोनों ही दृष्टियों से संग्रहणीय है। इसमें मारीशस के लेखकों की कलम से भारतीय आप्रवासियों के दुख-दर्द और वेदना को सजीव अभिव्यक्ति मिली है। मारीशस के नये-पुराने हस्ताक्षर इसमें एक साथ अभिव्यक्ति पा सके हैं यह प्रसन्नता की बात है। इस सुंदर अंक के लिये मेरी बधाई स्वीकार करें।

डॉ. मुनीश्वर लाल चिंतामणि/अध्यक्ष, भाषा विभाग/महात्मा गांधी संस्थान/मोका।

हिंदी प्रचारिणी सभा की स्वर्णजयंती पर '**गगनांचल**' का मारीशस अंक देखकर बहुत प्रसन्नता हुई। कुछ लेख निश्चय ही वास्तविकता के फलक पर प्रशंसनीय हैं। डॉ. रामयाद का संस्मरण यदि हृदय को छूता है, तो डॉ. हरगुलाल गुप्त का लेख 'हिंदी का विश्वस्तरीय रूप और मारीशसीय हिंदी' मन में स्वाभिमान जगाता है, सुश्री विदवती अगुध्या का लेख यदि मारीशसीय बालसाहित्य की झाँकी देता है, तो डॉ. मुनीश्वर लाल चिंतामणि के लेख में एक अपनापन झांकता है। सारे लेख, कहानी और नाटक अतीत में ले जाते हैं और अतीत हमारी बहुत बड़ी धरोहर है। विशेषांक के लिये बधाई।

श्री मूलशंकर रामधनी/हिंदी प्रवक्ता/महात्मा गांधी संस्थान तथा/महासचिव, आर्यसभा/मारीशस।

हमारे बाप-दादे भारत से गन्ने के खेतों में काम करने के लिये यहाँ आये थे उनके पास उस समय केवल कुछ धार्मिक पुस्तकें थीं, उन्हीं पुस्तकों के माध्यम से उन्होंने अक्षर-ज्ञान प्राप्त किया और अपनी अस्मिता को बनाये रखा। आज मारीशस में हिंदी प्रचारिणी सभा तथा अन्य अनेक संस्थायें हिंदी-प्रचार में लगी हैं और इन्हीं के माध्यम से अपने प्रारंभिक दिनों में हमने अपनी पहचान बनायी थी। यह खुशी की बात है कि 'गगनांचल' का एक अंक हमें देकर न केवल हिंदी प्रचारिणी सभा का सम्मान किया है, बल्कि हम सब मारीशस के हिंदी प्रेमियों को अपना अतिम प्यार दिया है। हमारी बधाई स्वीकार करें।

श्री सुदामा गिरधारी/वरिष्ठ इन्स्पैक्टर ऑफ स्कूल्स तथा महासचिव/ब्राह्मण महासभा मारीशस।

गत वर्ष जब 'गगनांचल' का मारीशस अंक प्रकाशित होने वाला था मैं हिंदी प्रचारिणी सभा के साथ संलग्न था। हमें बड़ी प्रतीक्षा थी इस अंक के प्रकाशित होने की और जब अंक छपकर आया तब मन इसे देखकर पुलकित हो उठा। इसकी छपाई इसकी सज्जा, इसकी सामग्री सबकी प्रशंसा कैसे की जाय। ऐसे लगता है कि यह भारत की जनता का महान प्यार है जो मारीशस वासियों के लिये अनेक रंगों में छलक पड़ा है। हमारा प्यार और आदर स्वीकार करें।

श्री नूमन राजपोल/महासचिव/नीलकंठ शिवालय/लोग माउंटेन/मारीशस।

'गगनांचल' के 'मारीशस अंक' में डॉ. हर गुलाल गुप्त का 'हिंदी का विश्वस्तरीय रूप और मारीशस में हिंदी' लेख बहुत खोजपूर्ण है, इसे पढ़कर मैं बहुत प्रभावित हुआ। साथ-साथ हिंदी संबंधित जो पुस्तक में लिख रहा हूँ उसके लिये अच्छी सामग्री भी मिल गई।

यह अंक हर दृष्टि से सुंदर और संग्रहणीय बन पड़ा है।

इंद्र देव भोला इंद्रनाथ/सचिव/हिंदी लेखक संघ/मारीशस।

'गगनांचल' का 'मारीशस अंक' बहुत सुंदर और चित्ताकर्षक है। सामग्री की दृष्टि से यह अंक एकदम महत्वपूर्ण है। इसमें प्रकाशित लेख काफी खोजपूर्ण हैं और उन्हें मारीशस का सांस्कृतिक इतिहास कहा जा सकता है। हिंदी के प्रचार-प्रसार में जो नाम अब इतिहास बनते जा रहे हैं वह इस अंक के द्वारा एक बार फिर आँखों के सामने चलचित्र की तरह घूम जाते हैं। हमारी हार्दिक बधाई स्वीकार करें।

श्री हरिनारायण सीता/वरिष्ठ हिंदी अध्यापक/मारीशस।

इस अंक के लेखक

डॉ. जगदीश गुप्त	जन्म : १९२६ ई. शाहबाद हरदोई, उत्तरप्रदेश। नयी कविता के सफल कवि और आलोचक, मनीषी साहित्यकार और चित्रकला की विभिन्न शैलियों तथा विधाओं से चित्र-रचना में रुचि। संप्रति : प्रोफेसर, हिंदी विभाग, प्रयाग वि. वि.
प्रभाकर माचवे	जन्म : २६ दिसंबर, १९११, ग्वालियर, म. प्र.। शिक्षा : दर्शनशास्त्र तथा अंग्रेजी में एम.ए., पी.-एच.डी. हिंदी की प्रयोगशील कविता के विशिष्ट हस्ताक्षर। मंत्री, मजदूर संघ इंदौर। दर्शन के प्राध्यापक उज्जैन, आकाशवाणी, साहित्य अकादमी, संघ लोक सेवा आयोग में विशिष्ट पदों पर कार्य। संपर्क : ई-१८०, ग्रेटर कैलाश पार्ट-II, नई दिल्ली।
डॉ. रणबीर रांग्रा	हिंदी के विद्वान। उपन्यासों पर विशेष कार्य। प्रसिद्ध कवियों और लेखकों से साक्षात्कार की नई विधा का प्रतिमान स्थापित करने वाले लेखक। निवृत्त निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय। संपर्क : सी ७/१८०, नवीन निकेतन, नई दिल्ली।
डॉ. गोपाल शर्मा	प्रसिद्ध हिंदी भाषा विज्ञान के विद्वान, शिक्षाशास्त्री, कवि, आलोचक। केंद्रीय हिंदी निदेशालय के निवर्तमान निदेशक। अनेक राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय भाषाविज्ञान की समितियों से संबद्ध। सदस्य (कार्यकारिणी) हिंदी अकादमी, दिल्ली। संप्रति : सी-८ सी. डी.डी.ए. फ्लैट्स, मायापुरी, नई दिल्ली-११००६४.
प्रताप सहगल	कवि, कथाकार, समीक्षक। इन्होंने अपनी यथार्थपरक लंबी कविताओं और नाटकों से विशेष पहचान बनाई है। अनेक नाटकों का सफल मंचन हुआ है और वे लोकप्रिय हुए हैं। अनेक रचनाओं का अंग्रेजी, बंगला, गुजराती, पंजाबी, पश्तो, नेपाली आदि में अनुवाद। संपर्क : प्राध्यापक, हिंदी-विभाग, दिल्ली कालेज।

डॉ. विजयेंद्र स्नातक	संस्कृत, हिंदी के प्रसिद्ध विद्वान। राधा-वल्लभ संप्रदाय के सिद्धांत और साहित्य पर विशेष शोध, जो इस भक्ति आंदोलन का स्रोत-ग्रंथ हो गया है। प्रसिद्ध समीक्षक, आलोचक। दिल्ली विश्वविद्यालय के निवृत हिंदी विभागाध्यक्ष। संपर्क : ई-५/३, राणाप्रताप बाग, नई दिल्ली।
कुबेरनाथ राय	हिंदी तथा अंग्रेजी के लेखन में समान गति। ललित निबंध के क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त रचनाकार, चिंतक, भारतीय संस्कृति एवं परंपरा के विद्वान संप्रति : प्राचार्य, गवर्नमेंट कालेज नलबारी, (असम)।
डॉ. नी[illegible] गुप्त	एम.ए. (हिंदी, इतिहास), पी.एच.डी.। पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ। संप्रति : मेरठ विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग से संबद्ध इस्माइल नेशनल स्नातकोत्तर डिग्री कालेज के हिंदी प्रोजेक्ट के अंतर्गत उच्च स्तरीय शोध कार्य में संलग्न।
डॉ. उमादत्त शर्मा 'सतीश'	जन्म : ११ मई, १९३७। गाँव महड़ (मोहन नगर) जिला चमोली, गढ़वाल (उ. प्र.)। शिक्षा : एम.ए. (हिंदी और भाषा विज्ञान), पी.-एच.डी. कुछ वर्ष सूरीनाम में हिंदी प्राध्यापक। नीदरलैंड में हिंदी के प्रचार-प्रसार से संबद्ध। विदेशों में हिंदी पर किये जा रहे कार्यों के ऊपर कुछ विशिष्ट पुस्तकें।
हरदयाल	आधुनिक हिंदी कविता और साहित्य के विख्यात आलोचक। संपर्क : एच-५०, पश्चिमी ज्योतिनगर, शाहदरा, दिल्ली-११००३२.
यश मालवीय	उभरती हुई नयी पीढ़ी के कवि, गीतकार। अपने ताजा बिम्बों और नयी संवेदना भूमि से क्रमश: विकासशील प्रतिभा। संपर्क : 'रामेश्वरम्', ए-१११ मेंहदोरी कालोनी, इलाहाबाद (उ.प्र.) २११११४.
डॉ. रामदरश मिश्र	जन्म : १५ अगस्त, १९२४, गोरखपुर के डुमरी गाँव में। शिक्षा : एम.ए., पी.-एच.डी. छह कविता संग्रह, दस उपन्यास, छह कहानी संग्रह। 'कितने बजे हैं' (ललित निबंध संग्रह) और 'यहाँ मैं खड़ा हूँ' (सफरनामा) प्रकाशित। संपर्क : आर-३८, वाणी विहार, उत्तम नगर, नई दिल्ली-११००५९.
शंकरदयाल सिंह	सुपरिचित लेखक एवं पत्रकार। देश की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर लेखन। अब तक विभिन्न विधाओं में १५ पुस्तकें प्रकाशित। भूतपूर्व सांसद (लोक सभा) एवं 'मुक्तकंठ' के संपादक रहे। देश की कई साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थाओं से संबद्ध।
डॉ. दिनेश चंद्र अग्रवाल	जन्म : मेरठ (उ. प्र.) १९४१ ई.। शिक्षा : एम.ए. (चित्रकला) पी.-एच.डी. हिंदी की शीर्षस्थ पत्र-पत्रिकाओं में शोध निबंध। पहाड़ी क्षेत्रीय राज्यों की पहाड़ी कला विषयक रिसर्च।

संपर्क : प्रवक्ता, चित्रकला-विभाग, जे. वी. जैन कालेज, सहारनपुर।

डॉ. गंगाप्रसाद विमल

अपने ही ढंग की अलग कहानियाँ लिखने के लिये विख्यात अपने समय के चर्चित एवं विवादास्पद लेखक। कथाकार, उपन्यासकार, आलोचक, अनुवादक होने के साथ-साथ उत्कृष्ट कवि भी। कई देशों की यात्रा व वहाँ के साहित्य पर अनुवाद कार्य। इनकी रचनाओं के अनुवाद अंग्रेजी, स्पेनी, रूसी, इतावली, पालिश, फ्रांसीसी, डेनिस, बल्गारियाई, लातवियन, इस्पहानी भाषाओं में हुए हैं।

ऑथर्स गिल्ड ऑफ इंडिया के उपाध्यक्ष।

संप्रति : रीडर, (हिंदी विभाग) जाकिर हुसैन कॉलेज, दिल्ली।

संपर्क : ई-ए/११ डब्लू इ ए, करौलबाग, नयी दिल्ली-११००५०।

डॉ. रणजीत साहा

हिंदी, संस्कृत, बंगला के विद्वान लेखक। कला, साहित्य, कविता के क्षेत्र में समीक्षात्मक कार्य। वेद, पुराण, मिथक तथा भारत की सांस्कृतिक परंपरा के समर्थ अध्येता एवं व्याख्याकार।

संप्रति : सहायक संपादक, साहित्य अकादमी रवींद्र भवन, फिरोजशाह रोड, नयी दिल्ली।

सुरेश ऋतुपर्ण

जन्म : १९४९, मथुरा (उ. प्र.)।

शिक्षा : एम.ए., एम. लिट्।

'अकेली गौरैया देख' (कविता-संग्रह) उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा पुरस्कृत। साहित्य की विविध विधाओं पर कुछ पुस्तकें। फीजी और आस्ट्रेलिया की यात्रा व रचनात्मकता।

संप्रति : प्राध्यापक (हिंदी विभाग) हिंदू कालेज, दिल्ली। □